CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्य में भक्ति की अवधारणा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
की
पी-एच० डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० सुदर्शन लाल जैन
रीडर

प्रस्तुतकर्ता
धरम चन्द जैन
शोध-छात्र

संस्कृत-विभाग
कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५

सन् १९८५

पंजीयन संख्या १२२१८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

DHRUVA BOOK BINDER B.H.U. GATE, LANKA VARANASI

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

12.5

3200

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्य में भक्ति की अवधारणा

Forwarded & Recommended

Professor & Head,
Department of Sanskrit
Faculty of Arts,
Banaras Hindu University

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
की
पी-एच० डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

SUPERVISOR

निर्देशक
डॉ० सुदर्शन लाल जैन
रीडर

प्रस्तुतकर्ता
धरम चन्द जैन
शोध-छात्र

संस्कृत-विभाग
कला-संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५

सन् १९८५ पंजीयन संख्या १२२१८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्य में भक्ति की अवधारणा

Forwarded & Recommended
16. 3. 85
Professor & Head,
Department of Sanskrit
Faculty of Arts,
Banaras Hindu University

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
की
पी-एच० डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

Forwarded and recommended
16.3.85
SUPERVISOR

निर्देशक
डॉ० सुदर्शन लाल जैन
रीडर

प्रस्तुतकर्ता
धरम चन्द जैन
शोध-छात्र

संस्कृत-विभाग
कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५

सन् १९८५

पंजीयन संख्या १२२१८५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Railway Station :- Varanasi   Post & Tele. Office:- Banaras Hindu University

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००५
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI—221005

No................   Dated....................

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री धरम चन्द जैन, शोधछात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविधरलय ने अपना शोध-कार्य इस विश्वविधालय की पी-एच०डी० अध्यादेश के उपखण्ड 3.1 में वर्णित नियमों के अन्तर्गत एक निश्चित अवधि में सम्पन्न किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस विभाग के पूर्णकालिक पी-एच०डी० शोध छात्र के रूप में किए गएइनके स्वतन्त्र अनुसन्धान का परिणाम है।

इन्होंने शोधकार्य के लिए स्वीकृत सम्पूर्ण शोध सहायक सामग्रियों का वापस कर दिया है।

अग्रसारित

16.3.85

(प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य)
विभागाध्यक्ष
Professor & Head,
Department of Sanskrit
Faculty of Arts,
Banaras Hindu University.

(डॉ. सुदर्शन लाल जैन)
निर्देशक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राक्कथन

आज का युग विज्ञान का युग माना जाता है। धार्मिक मान्यताओं को जब तक मानव विज्ञान की कसौटी पर परख नहीं लेता है, तब तक उन्हें मानना नहीं चाहता है। वैज्ञानिक विश्लेषण के बिना धर्म को अन्धविश्वास माना जाता है। मानव प्रारम्भ से ही दुःखों से छुटकारा प्राप्ति तथा सुखप्राप्ति के संसाधनों की खोज करता आ रहा है। प्राचीन मनीषियों ने इस सन्दर्भ में आध्यात्मिक विद्या का विकास किया। आधुनिक चिन्तन भौतिक विज्ञान की विद्या के द्वारा उस कार्य को सम्पादित कर रहा है। भौतिक विज्ञान ने उन्नति तो बहुत की है परन्तु मानव को परमशान्ति उससे नहीं मिली है। वह और अधिक अशान्त हो गया है। अतः मेरे मन में प्रश्न जागृत हुआ कि आध्यात्मिक युग की भक्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण क्यों न किया जाये। आज अमेरिका आदि भौतिक वैज्ञानिकों के देश में भी भक्ति की लहर आ रही है। वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्ति-सम्प्रदाय के नाम से ही विख्यात हो रहा है। यह सच है कि आत्मसमर्पण में आनन्द की अनुभूति होती है परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मसमर्पणरूप भक्ति कहीं भुलावा तो नहीं है? उसका कोई ठोस आधार है या नहीं? इत्यादि प्रश्न प्रायः सभी के मन में उदित होते हैं।

एक प्रश्न मेरे मन में विशेषरूप से प्रेरक रहा है कि जैनदर्शन जो सामान्य जगत् में अनीश्वरवादी एवं नास्तिक दर्शन माना जाता है, उसमें भक्ति का क्या स्वरूप होगा? इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने अपने निर्देशक महोदय से इस विषय पर शोध कार्य करने की इच्छा प्रकट की। जैन विद्या के उच्चकोटि के विद्वान् डॉ० सुदर्शन लाल जैन, रीडर, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी ने इस विषय पर निर्देशन देना स्वीकार कर लिया। फलतः यह शोधप्रबन्ध आपकी सेवा में प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका। इसके लेखन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिनका सहयोग मिला है, उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना मेरा परम कर्त्तव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धन्यवाद ज्ञापन के क्रम में सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक के प्रति भक्तिभाव से नतमस्तक हूँ, जिनकी सतत प्रेरणा, स्नेह, मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद का यह फल है। अपने व्यस्त जीवन में भी सदैव मेरे कार्य में सहयोग करने वाले निर्देशक को किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, मेरे पास शब्द नहीं है। श्रद्धेय गुरुवर्य की धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमा जैन का भी बहुत-बहुत आभारी हूँ जिनसे मातृवत् स्नेह एवं प्रेरणा मिली। इसके उपरान्त विभागीय समस्त गुरुजन विशेषत: प्रो० एवं भूतपूर्व अध्यक्ष डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा तथा वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो० डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य जी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनसे सदा प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है।

पूज्य पितृचरण श्री कपूरचन्द्र जैन के प्रति भी नतमस्तक हूँ, जिनकी सतत् प्रेरणा तथा आशीर्वाद से इस कार्य को मैं पूर्ण कर सका। इस प्रसङ्ग में मैं अपने अनुज श्री शीतल चन्द्र जैन को भी धन्यवाद देता हूँ, जिसने इस कार्य की सम्पन्नता में योगदान दिया है।

इसी क्रम में श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान वाराणसी के प्रति आभारी हूँ, जहाँ से टाइपिंग हेतु आर्थिक सहायता तथा पुस्तकीय सहायता प्राप्त हुई। एतदर्थ पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री तथा डा० राजाराम जी जैन का आभारी हूँ जिनसे सतत ज्ञान मिलता रहा। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी का विशेषरूप से आभारी हूँ, जहाँ से पुस्तकों की सहायता प्राप्त हुई। इस सन्दर्भ में डा० सागरमल जी जैन का भी आभारी हूँ, जिनसे समय-समय पर प्रेरणा मिलती रही है। अन्त में टाइपकर्ता श्री सोहनलाल एवं श्री वीरसेन विश्वकर्मा का भी आभारी हूँ।

धरम चन्द जैन

(धरम चन्द जैन)

सन् 1985

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेत-सूची

अ०	=	अध्याय
अभि०रा०को०	:	अभिधानराजेन्द्रकोश
आ०नि०	:	आवश्यकनिर्युक्ति
उ०सू०	:	उत्तराध्ययनसूत्र
ऋ०	:	ऋग्वेद
गा०	:	गाथा
चे०वं०म०	:	चेइयवंदणमहाभासं
जै०सि०को०	:	जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष
जै०सा०वृ०इ०	:	जैन साहित्य का वृहद् इतिहास
जै०सा०इ०	:	जैन साहित्य का इतिहास
जै०स्तो०सं०	:	जैनस्तोत्रसंदोह
जै०म०मी०	:	जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा
त०वृ०	:	तत्त्वार्थवृत्ति
त०सू०	:	तत्त्वार्थसूत्र
त०वा०	:	तत्त्वार्थवार्तिक
ति०प०	:	तिलोयपण्णत्ति
द०भ०सं०	:	दशभक्त्यादिसंग्रह
नि०सा०	:	नियमसार
नि०चू०	:	निशीथचूर्णि
पर०प्र०	:	परमात्मप्रकाश
प्रस्ता०	:	प्रस्तावना
प्र०सा०	:	प्रवचनसार
प्रा०यो०भ०	:	प्राकृतयोगिभक्ति
पा०स०म०	:	पाइअसद्दमहण्णवो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परि०	:	परिशिष्ट
पु०सि०	:	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
पृ०	:	पृष्ठ
भ०स्तो०	:	भक्तामरस्तोत्र
भ०आ०	:	भगवती आराधना
भा०	:	भाग
भा०सं०वि०यो०	:	भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान
य०च०	:	यशस्तिलकचम्पू
रत्न०श्रा०	:	रत्नकरण्डश्रावकाचार
व०श्रा०	:	वसुनन्दि श्रावकाचार
स्व०स्तो०	:	स्वयम्भूस्तोत्र
सं०द०भ०	:	संस्कृतदशभक्ति संग्रह
स०सि०	:	सर्वार्थसिद्धि
समी०ध०	:	समीचीन धर्मशास्त्र
स०सा०	:	समयसार
सं०सा०इ०	:	संस्कृत साहित्य का इतिहास
हि०सा०इ०	:	हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठसंख्या

प्राक्कथन 1- 32

संकेत-सूची

प्रथम अध्याय- जैनभक्ति का उद्भव एवं विकास 1- 32

भक्ति का उद्भव

भक्ति का विकास

जैनभक्ति का उद्भव

जैनभक्ति का विकास

जैनभक्ति साहित्य

द्वितीय अध्याय- भक्ति का स्वरूप एवं उसके अंग 33- 76

भक्ति का स्वरूप

भक्ति के विभिन्न नाम

वैयावृत्य

श्रद्धा

सेवा

अनुराग

सम्यग्दर्शन

भक्ति के अंग

निःशंकित अंग

निष्कांक्षित अंग

निर्विचिकित्सा अंग

अमूढ़दृष्टि अंग

उपगूहन अंग

स्थितिकरण अंग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठसंख्या

वात्सल्य अंग
प्रभावना अंग
अंग की कथायें

जिनदत्त सेठ कथा
अन्जनचोर कथा
अनन्तमती कथा
राजा उद्दायन कथा
शंखमुनि कथा
आचार्य रुद्र कथा
जिनेन्द्रभक्त सेठ कथा
राजा हस्तिमल्ल कथा
मुनि विष्णुकुमार कथा
मुनि अचल कथा
भक्ति के दोष

तृतीय अध्याय- भक्ति के साधन एवं भेद 77-183

प्रथम परिच्छेद : भक्ति के साधन

पूजा
स्तुति-स्तोत्र
संस्तव-स्तवन
उपासना
वन्दना
विनय
मङ्गल
महोत्सव
सामायिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठसंख्या

द्वितीय परिच्छेद : भक्ति के भेद

(क) उत्पत्ति की दृष्टि से-

निसर्गज

अधिगमज

(ख) आराध्य की दृष्टि से -

सिद्धभक्ति

श्रुतभक्ति

चारित्रभक्ति

योगीभक्ति

आचार्यभक्ति

पन्चपरमेष्ठीभक्ति

तीर्थङ्करभक्ति

शान्तिभक्ति

समाधिभक्ति

निर्वाणभक्ति

नन्दीश्वरभक्ति

चैत्यभक्ति

(ग) पद्धति के भेद से-

नवधाभक्तियाँ

श्रवणभक्ति

कीर्तनभक्ति

स्मरणभक्ति

अर्चनभक्ति

वन्दनभक्ति

पादसेवनभक्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठसंख्या

आत्मनिवेदनभक्ति
दास्यभक्ति
सख्यभक्ति
आहारसम्बन्धी नवधाभक्ति

(घ) आराध्य के आश्रय भेद से-
नामभक्ति
स्थापना भक्ति
द्रव्य भक्ति
भाव भक्ति
क्षेत्रभक्ति
काल भक्ति

चतुर्थ अध्याय - उपास्य देव एवं देवियाँ 184-220

उपास्य देव मण्डल

"देव" शब्द की व्याख्या
देवों के भेद
भवनवासी देव
व्यन्तर देव
ज्योतिष्क देव
वैमानिक देव
उपाधियाँ
इन्द्र
धरणेन्द्र
लौकान्तिक देव
सूर्य
यक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठसंख्या

विभिन्न यक्ष
भूत
नैगमेषी
अन्य जैन उपास्य देव एवं देवतुल्य प्राणी

आराध्य देवियां

देवी सरस्वती
पद्मावती
चक्रेश्वरी
अम्बिका
कुरुकुल्ला
ज्वालामालिनि
लक्ष्मी
सच्चियया

पञ्चम अध्याय- ईश्वर की स्थिति एवं भक्ति का प्रयोजन 223-238

ईश्वर की स्थिति
भक्ति का प्रयोजन
मोक्ष प्राप्ति
गुणोपासना

उपसंहार 239-243

परिशिष्ट- जैनभक्ति एवं तान्त्रिक साधना 244-253

विकास
साहित्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठसंख्या

प्रमुख जैन मन्त्र

णमोकार महामन्त्र

प्रमुख यन्त्र

प्रमुख तन्त्र

सहायक ग्रन्थ-सूची 254-264

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम अध्याय

जैनभक्ति का उद्भव एवं विकास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनभक्ति का उद्भव एवं विकास

भक्ति का उदय

भक्ति के उदय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार संसार के इतिहास में ईसाई धर्म में ही सर्वप्रथम भक्ति का उदय हुआ और वहीं से यह भक्ति भारतवर्ष में प्रविष्ट होकर सर्वत्र प्रचारित हुई। उनका कहना है कि वैदिक संस्कृति में भक्ति का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है।[1] किन्तु यह मत भारतीय विद्वानों ने युक्तिसंगत नहीं माना है। वे वैदिककाल से ही भक्ति का उदय मानते हैं।[2] वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बहुत मतभेद है, मीमांसकों ने वेदों को अपौरुषेय माना है। अपौरुषेय होने से वे नित्य हैं, अतः उनके मत में वेदोंके समय-निर्धारण की आवश्यकता ही नहीं हुई। किन्तु पश्चिमी विद्वान् तथा आधुनिक भारतीय शोध मनीषी इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। ऋषियों को वे मन्त्रों का द्रष्टा न मानकर कर्ता मानते हैं।[3]

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने वेदों में प्राचीनतम वेद ऋग्वेद का समय 1200 ई0 पूर्व माना है। यह मत बहुत प्रसिद्ध है परन्तु ऋग्वेद में जो नक्षत्र-विषयक सूचनायें दी गई हैं उनके आधार पर लोकमान्य तिलक ने ऋग्वेद

1- धर्मदर्शन, पृ0 216

2- वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ0 4

3- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 46-47

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का रचनाकाल ईसा से छः हजार वर्ष पूर्व माना है। छः हजार से लेकर 4 हजार ई0 वर्ष पूर्व ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना हुई। अन्य वेदों की रचना 4 हजार वर्ष से लेकर 3 हजार वर्ष तक हुई।[1] भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन के आधार पर डा0 अविनाश चन्द्र दास ने वेदों की रचना लाखों वर्ष पूर्व मानी है।[2] इसप्रकार से वेदों की रचना का समय निर्धारण करना कठिन है। किन्तु वैदिक संस्कृति के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान के उदय-स्थल हैं वैसे ही वे भक्ति के भी उद्‌गम स्थान हैं।[3] यद्यपि संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में "भक्ति" शब्द का अभाव है किन्तु इस अभाव के कारण यह कहना कि उस युग में भक्ति की भावना प्रसूत नहीं हुइ थी नितान्त अयुक्तिसंगत है।

वैदिक मन्त्रों में अनेक देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं। ये स्तुतियाँ इतनी अधिक सहृदयता एवं मार्मिकता से की गइ हैं कि उनमें स्तोता के हृदय में अनुरागसूचक भक्ति का अभाव मानना उचित नहीं है। अतः स्तोता के हृदय में देवताओं के प्रति प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है। अनेक देवताओं की स्तुतियों का वर्णन इन वेदों में हुआ है।

वैदिक साहित्य में अग्नि देव का विशेष महत्व है। अग्नि को वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिनिधि देव कहा जाता है। इन्हीं के सहयोग से यज्ञ यागों का सम्पादन सिद्ध होता है। वे विपत्तियों को दूर करने वाले ही नहीं अपितु पिता तथा माता जैसे अनुरागात्मक सम्बन्धों के आधार भी माने गये हैं।[4] वैदिक देवताओं में इन्द्र शौर्य के प्रतीक माने जाते हैं। दस्युओं पर आर्यों के

1- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ0 48

2- देखिए, वही, पृ0 48

3- भक्ति का विकास, पृ0 151

4- ऋ0, 6/1/5

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विजय प्रदान करने के कारण वे उनके प्रधान उपास्य देव समझे जाते हैं। उपासकों ने इन्द्र को भी पिता तथा माता के रूप में स्वीकार किया है।[1] इन्द्र उपासकों के सखा या माता-पिता ही नहीं अपितु पितरों में भी श्रेष्ठ हैं।[2] कहीं-कहीं पर वैदिक सूक्तों में इतना अधिक अनुराग दिखाया गया है कि वह श्रृङ्गारिक हो गया है। एक मन्त्र में कृष्ण आंगिरस ऋषि से कह रहे हैं कि जिस प्रकार "जाया" पति का आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार हमारी मति इन्द्र का आलिङ्गन करती है।[3]

भक्ति की भावना सबसे अधिक वरुण सूक्तों में मिलती है। वैदिक देवताओं में वरुण का स्थान प्रमुख है। वह सर्वज्ञाता तथा सर्वद्रष्टा है। स्तुति करने वाला अपने अपराधों के प्रति क्षमा मांगते हुए कहता है- "मैं तुम्हारा नित्य आप्त प्रियजन हूँ। मैंने आपके प्रति अनेक पाप किये हैं। इन पापों को क्षमा कर मुझे अपनी मित्रता दीजिए। हे यक्षिन्! हे अदभुत कर्मों के कर्ता, हमारे पापों को दूर कर दो जिससे अपराधी बनकर हम अपना भोजन न करें। तुम बुद्धिमान हो, इस स्तुतिकर्ता का अनिष्ठ निवारण करके वरणीय वस्तु प्रदान करो।[4] इस स्तुति में स्तोता की रागात्मिका प्रवृत्ति स्वतः प्रकट हो रही है। यह सख्य भक्ति का उदाहरण माना जा सकता है।

वैदिक मन्त्रों में यद्यपि साक्षात् रूप से भक्ति तत्त्व का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है। तथापि प्राचीन आचार्यों ने वेद के मन्त्रों में साक्षात् रूप से भक्ति तत्त्व का समर्थन किया है। जैसे शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्र में कहा है-

---

1- ऋ0, 8/98/11

2- ऋ0, 4/17/17

3- ऋ0 संहिता, 10/43/1 तथा देखिए 10/40/2

4- ऋ0 सं0, 7/88/6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः" अर्थात् भक्ति श्रुति से साक्षाद् रूप से जानी जा सकती है।[1] इसकी व्याख्या में नारायणतीर्थ ने भक्ति तथा उसके श्रवण, कीर्तन आदि नवधा प्रकारों के मन्त्रों का उदाहरण सहित विवेचन किया है।[2]

ब्राह्मण साहित्य में भक्ति की भावना उपासना क्षेत्र में दृढ़ रूप से मिलती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की प्रधानता होते हुए भी भक्ति की भावना कम नहीं होती अपितु श्रद्धा से युक्त हृदय की अनुरागात्मक प्रवृत्ति बढ़ती ही दिखलायी पड़ती है। उपासना बिना भक्ति के सम्भव नहीं है। भले ही वह गौण हो परन्तु वह रहती अवश्य है। आरण्यकों में बहिर्याग की अपेक्षा अन्तर्याग को विशेष महत्त्व दिया गया है। चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग के विपुल प्रचार का यह युग रहा है। इन दोनों से पुष्ट होकर भक्ति की प्रबलता की ओर साधकों का ध्यान स्वतः आकृष्ट हुआ।[3] उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के श्रेष्ठ ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें भी भक्ति का महत्त्व स्थान-स्थान पर मिलता है। कठोपनिषद् में आत्मप्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करने वाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है और निष्काम व्यक्ति जगत्कर्ता के प्रसाद, अनुग्रह से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है।[4] अर्थात् आत्मा के अनुग्रह (प्रसाद) का सिद्धान्त स्पष्टरूप से भक्ति को प्रदर्शित करता है। वैष्णवधर्म में प्रसाद, दया तथा अनुग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त की कामना पूर्ण एवं फलित

1- शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, 1/2/9

2- (क) भक्तिचन्द्रिका, पृ0 77-82

(ख) ऋ0 सं0, 1/156/3 तथा देखिए 1/156/2

3- भक्ति का विकास, प्रस्तावना, पृ0 3

4- कठोपनिषद, 1/2/23 तथा देखिए, 1/2/20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है।[1] श्रीमद्भागवत में इसे "पोषण" का सिद्धान्त कहा गया है।[2] श्री वल्लभाचार्य का वैष्णवमत इसी "पुष्टिमार्ग" के नाम से अभिहित किया गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् के एक मन्त्र में तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है।[3] इस उपनिषद् में भक्ति के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है--

" यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।"[4]

"अर्थात् जिस पुरुष को देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है। उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं।"उपनिषद् साहित्य में "भक्ति" शब्द का यह प्रथम प्रयोग माना गया है।[5] बाद में वैष्णवधर्म के अन्तर्गत गुरु की जो महिमा बतायी गयी है, उसी का प्रतिपादन उपरोक्त मन्त्र में किया गया है। भक्ति को यद्यपि वेद के सूक्तों में देखा गया है और विष्णुसूक्त को वैष्णव भक्ति का आधार माना है किन्तु उपनिषद्काल के अनन्तर ही भक्ति की प्रतिष्ठा समाज में देखी जाती है।[6] छान्दोग्योपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि में विष्णु, शिव, रुद्र एवं नारायण आदि की भक्ति और उपासना के पर्याप्त सङ्केत पाये जाते हैं।[7]

1- भागवत, 5/19/27
2- "पोषणं तदनुग्रहः", भागवत, 2/10/4
3- श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/21
4- देखिए, वही, 6/23
5- देखिए, वही, 6/18
6- कल्याण, उपासना अङ्क, 1976 सन्, अङ्क 21, पृ0 46
7- (क) ऐतरेय ब्राह्मण, 11/8
(ख) श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/23

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्भागवत गीता वैष्णवधर्म का प्रमुख ग्रन्थ है। जिसमें भक्ति के तत्वों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। वस्तुतः कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों के तत्वों का श्रीमद्भागवत गीता में संकलन किया गया है।

इसप्रकार से वैदिक संहिताओं तथा उपनिषदों में भक्ति का प्रतिपादन हुआ है। ब्रह्म सर्वकाम तथा सत्यसंकल्प है। उसके "प्रसाद" से ही साधक इस लोक के क्लेशों से अपना उद्धार कर सकता है। वैष्णवधर्म का यह आधार वेद पर आधारित है।[1] इस तरह वैदिक साहित्य की समीक्षा से निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति का सिद्धान्त वैदिक है तथा भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम काल से ही इस भारतभूमि पर भक्ति का प्रचलन हुआ है।

विकास

इस तरह भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति का उद्भव वैदिककाल से ही दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद के विष्णुसूक्त एवं वरुणसूक्त में भक्ति के मूलतत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। उपास्य या आलम्बन के भेद से भक्तिमार्ग अनेक प्रकार का है किन्तु एक विष्णु या कृष्ण को ही उपास्य मानकर भक्तिमार्ग के नाना रूप हो गये हैं और भक्तिमार्गियों में भी प्राधान्य वैष्णवों का है। अतएव वैष्णवधर्म ही मुख्यरूप से भक्तिमार्ग के नाम से जाना जाता है।

भक्ति के विकास को तीन कालों में विभक्त किया गया है। यथा—

प्रथम काल : 1500 ई०पूर्व से लेकर 500 ई० तक[2]

भक्ति के विकास का प्रारम्भिक समय 1500 ई०पूर्व से लेकर 500 ई० तक माना गया है। यह समय सात्वतों के उदय से लेकर गुप्त नरेशों के अभ्युदय काल तक फैला हुआ है। प्राचीनकालीन वैदिक भक्ति का प्रभाव महाभारत काल

1- कल्याण, अङ्क 21, पृ० 46

2- भागवत सम्प्रदाय, पृ० 88

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक आते-आते समाप्त होने लगा। वैष्णव भक्ति की भागवत धारा का विकास इसी काल में हुआ। यादवों की सात्वत शाखा में प्रवृत्ति-प्रधान भागवतधर्म का उत्कर्ष हुआ। सात्वतों ने ही मथुरा, वृन्दावन से लेकर मध्यभारत, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक होते हुए दक्षिण में तमिल प्रदेश तक प्रवृत्तिमूलक, रागात्मक भागवतधर्म का प्रसार किया। अभी तक वैष्णव या शैव भक्ति के उपास्य देवगण (परमेश्वर) ही थे। महाभारतकाल में वैष्णव भागवतधर्म को एक ऐतिहासिक उपास्य का आधार कृष्ण-वासुदेव के व्यक्तित्व में मिला। कृष्ण विष्णु के अवतार माने गये और धीरे-धीरे उनका ब्रह्म से तादात्म्य हो गया। इसप्रकार नर देहधारी विष्णु की भक्ति जन साधारण के लिए सुलभ हो गइ। इससे पूर्व यह धर्म ऐकान्तिक, नारायणीय आदि नामों से पुकारा जाता था। कृष्ण-वासुदेव भक्ति के उदय के पश्चात् यह भागवतधर्म कहलाने लगा। भागवतधर्म के इस रूप का उदय काल लगभग 1400 ई०पू० है। तब से लेकर लगभग छठीं-सातवीं शताब्दी तक यह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।[1] भक्ति के विकास के प्रथम काल में भक्त भगवान् को सखा के रूप में या प्रभु के रूप में देखते थे। इसका प्रमाण महाभारत और गीता है।[2] इस काल में ध्यानप्रधान भक्ति का भी उल्लेख मिलता है।[3]

द्वितीय काल : 600 ई० से 1400 ई० तक[4]

भक्ति के विकास का द्वितीय युग 600 ई० से 1400 ई० तक माना जाता है। दक्षिण भारत में भक्ति का आन्दोलन इसी समय हुआ। यह काल

1- (क) हि०सा०बृ०इति० भाग 5, पृ० 437

(ख) भारत की संस्कृति और कला, पृ० 278

2- (क) श्रीमद्भागवत गीता, 7/5/22,23,9/20,21, 11/53,54, 17/12

(ख) ऋ०, 1/154/5 तथा देखिए, 7/100/3

3- हि० ध०को०, प्रस्तावना, पृ० 6

4- भागवत सम्प्रदाय, पृ० 183

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दक्षिण भारत में आलवार संतों से प्रारम्भ होकर वैष्णव आचार्यों तक चलता है। इस समय उत्तरभारत में सिद्ध, सन्त वेद की निन्दा कर रहे थे, पर दक्षिण में "नायान्मार" तथा "आलवार" सन्त शिव अथवा विष्णु की भक्ति में विभोर होकर जनता को प्रेम का सन्देश सुना रहे थे। ये "सन्त" रहस्यवादी थे। उन्होंने भक्ति में स्वयं को समर्पित कर देना आदि बातों को आवश्यक माना। उनकी भक्ति व्यवहारिक स्तर से ऊपर थी। इस कमी को पूरा करने का काम वैष्णव आचार्यों ने किया। इस काल के प्रमुख आचार्यों में रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य का नाम उल्लेखनीय है।[1]

तृतीय काल : 1400 ई० से 1900 ई० तक[2]

भक्ति का तृतीय विकास काल 1400 ई० से 1900 ई० तक माना गया है। इस काल के प्रारम्भ होने से पूर्व शैवशाक्त सम्प्रदायों तथा शाङ्कर वेदान्त के प्रचार से प्राचीन भागवत धर्म का प्रचार कुछ मन्द पड़ गया। किन्तु पूर्व मध्ययुग में इसका पुनरुत्थान हुआ। भागवतधर्म का नवोदित रूप हमें उत्तर-भारत में दिखलायी पड़ता है। जो कि आगे चलकर भक्ति का केन्द्रबिन्दु बन गया। भागवत रागात्मिका भक्ति के नवोदित रूप की उत्पत्ति तथा विकास का इतिहास भागवत पुराण के माहात्म्य में इसप्रकार से दिया हुआ है--

"उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाहं चिरं जाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्।।
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।।[3]

1-भक्ति का विकास, अ० 6, पृ० 379
2-भागवत सम्प्रदाय, पृ० 232
3-भागवतपुराण, माहात्म्यप्रकरण, पृ० 105

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् " मैं वही (जो मूलतः यादवों की एक शाखा में अंज मानवकों द्वारा लायी गयी थी। द्रविड़ प्रदेश में (रागात्मक भक्ति के रूप में) उत्पन्न हुई। कर्नाटक में वृद्धि को प्राप्त हुई। महाराष्ट्र में कुछ-कुछ (पोषण) हुआ। गुजरात में वृद्धावस्था को प्राप्त हुई। वहाँ घोर कलियुग (म्लेच्छ आक्रमण) के सम्पर्क से पाखण्डियों द्वारा खण्डित अङ्गवाली मैं भक्ति दुर्बल होकर बहुत दिनों तक पुत्रों (ज्ञान-वैराग्य) के साथ मन्दता को प्राप्त हो गयी। फिर वृन्दावन (कृष्ण की लीलामयी) पहुंचकर सम्प्रति नवीना, सुरूपिणी, युवती और सम्यक् प्रकार से सुन्दर हो गयी हूँ।" इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन रागात्मिका भक्ति का उदय तमिल प्रदेश में हुआ। परन्तु उसके पूर्ण संस्कृत रूप का विकास भागवतधर्म के मूल स्थल वृन्दावन में ही हुआ जिसको दक्षिण के सन्त आचार्यों ने अपनी उपासना भूमि बनाया। इस काल में भक्ति का ही बोलबाला रहा है। भक्ति का इतना प्रचार हुआ है कि भक्ति ही को धर्म मान लिया गया है। प्राचीनकाल में भक्ति का मुख्य प्रकार ध्यान था। किन्तु इस काल में आकर भक्ति ने जो रूप लिया उसके कारण ध्यान रूपी भक्ति गौण हो गई और उसके स्थान में उत्तरोत्तर अभिनव भक्ति प्रचार में आने लगी। इस काल की भक्ति की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं--

1- ध्यानप्रधान या ज्ञान वैराग्ययुक्त भक्ति के स्थान पर प्रेम लक्षणा भक्ति की प्रधानता।
2- प्रेम लक्षणा भक्ति में शृङ्गार रस का प्राधान्य।
3- लक्ष्मी या रुक्मणी के स्थान पर राधा की मान्यता।
4- गोपियों की भक्ति की प्रशंसा।
5- जारभावयुक्त भक्ति की प्रशंसा।
6- गोपीभाव या सखी-भक्ति।
7- कृष्णभक्ति की प्रधानता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुजरात के वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने और बंगाल में चैतन्य के अनुयायियों ने भक्ति के नाम से जो लीला की है वह विशेषतः जारभक्ति का सीधा परिणाम है।[1]

इस काल में जितने भी काव्य रचे गये हैं वे सभी गुरु की महिमा, ईश्वर नाम का गुणगान, भक्ति की सर्वोत्कृष्टता, बाह्य आडम्बरों का विशेष विरोध तथा धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक आदि सभी क्षेत्रों में भक्ति के द्वारा समन्वय की भावना आदि प्रवृत्तियों से पूर्ण थे।[2] इस समय के प्रमुख भक्त कवियों में स्वामी राघवानंद, स्वामी रामानन्द, वल्लभाचार्य, निम्बकाचार्य, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, रैदास एवं अष्टछाप के अन्य कवि उल्लेखनीय हैं।[3]

जैनभक्ति का उद्भव एवं विकास

जैनभक्ति का उद्भव

वैदिक भक्ति के उद्भव और विकास को अवगत कर लेने के बाद अब जैन भक्ति के उद्भव और विकास का सिंहावलोकन अपेक्षित है। वैदिक परम्परा की तरह जैन परम्परा भी प्राचीनतम सिद्ध होती है। अनेक उद्धरणों से जैन परम्परा की प्राचीनता को मैं स्पष्ट कर रहा हूँ। जैनाचार्य शाकटायन पाणिनि

1- भक्ति का विकास, पृ0 7, 301, 302

2- भागवत सम्प्रदाय, पृ0 232

3- भक्ति का विकास, अ0 6, पृ0 303, 310

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋषि से पूर्व हुये थे। जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है।[1] रामायण[2], महाभारत[3], अष्टादशपुराणं[4], मनुस्मृति[5] एवं श्रीमदभागवत[6] में जैनधर्म की परम्परा के स्पष्ट सङ्केत मिलते हैं। चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है।[7] ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण

1- "व्योर्लघुप्रयत्नतर: शाकटायनस्य।" -- अष्टाध्यायी, 8/3/18

2- योगवशिष्ठ, पद्य- 16 तथा देखिए, भा०सं०जै०यो०, पृ० 17

3- वादरायणसूत्र, 2/5/33, तथा देखिए, भा०सं०जै०यो०, पृ० 17-18

4- (क) कैलासे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वर: ।
चकार स्वावतारञ्च सर्वज्ञ: सर्वग: शिव: ।। --शिवपुराण, पद्य-21

(ख) आदित्य प्रमुखा: सर्वे बद्धाञ्जलय ईशं ।
ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदङ्घ्रियुगनीरजम् ।।
परमात्मानमात्मानं लसत्केवल निर्मलम् ।
निरञ्जननिराकारं ऋषभन्तुमहाऋषिम् ।। -- स्कन्दपुराण, पद्य-3/80

5- मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमा: ।
अष्टमो मरुदेव्यान्तु नाभेजति उरुक्रम: ।।
दर्शयन्वर्त्मवीराणां सुरासुरनमस्कृत: ।
नीतित्रितय कर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिन: ।।-- मनुस्मृति, पद्य-106

6- भागवत् के पांचवें स्कन्ध के चौथे, पांचवें और छठें अध्याय में भगवान् ऋषभदेव को आठवां अवतार बतलाकर उनका विस्तृत वर्णन किया गया है।

7- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 48

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाने से जैनभक्ति की प्राचीन परम्परा पर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद के निम्नलिखित सूक्तों में वातरशना मुनियों का तथा भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख किया है--

"मुनयो वातरशना: पिशंगा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ।।"[1]

जैन निर्ग्रन्थ साधुओं के नायक "केशी" की स्तुति भी निम्नलिखित सूक्त में की गई है--

"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।।"[2]

निम्नलिखित ऋग्वेद के सूक्त में वृषभ और केशी का साथ-साथ उल्लेख आया है--

"ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधर्युक्तस्य द्रवत: सहानस, ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम्।।"[3]

इसप्रकार से ऋग्वेद की ऋचाओं में वातरशना मुनियों तथा "केशी ऋषभदेव" का उल्लेख होने से जैनभक्ति की परम्परा प्राचीनकाल में प्रचलित मानी जा सकती है।[4] केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा है, इसका अन्य प्रमाण

1- ऋ0 10/136/2,3

2- देखिए, वही, 10/136/1

3- देखिए, वही, 10/102/6

4- (क) ऋ0, 10/102/10

(ख) भागवतपुराण, 5,3,20 तथा 5,6,28,29,30,31

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह है कि महावीर के समय में पार्श्व सम्प्रदाय के नायक का नाम केशीकुमार था।[1]

ऋग्वेद में मुनियों के अतिरिक्त यति और व्रात्य शब्दों का उल्लेख भी आया है जिससे जैन श्रमण परम्परा में भक्ति की प्राचीनता भी सिद्ध होती है।[2]

इसप्रकार से वैदिक साहित्य में उद्धृत उपरोक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि जैन परम्परा की प्राचीनता ई0पूर्व सन् 1500 में प्रचलित थी। अतः जैन परम्परा की प्राचीनता से जैनभक्ति का उद्भव भी ई0पूर्व सन् 1500 से मानना उचित होगा।

प्रसिद्ध विचारक डा0 दलसुख मलवणिया ने भक्ति के मूल स्रोतों का उद्गम श्रमण परम्परा को माना है। उनका कथन है कि -- "जब तक नाना देववाद की प्रतिष्ठा हो, जब तक उन देवों का रूप मानवीय न हो, तब तक भक्तिवाद को पनपने की गुंजाइश नहीं है। वेद में तो नाना देववाद का प्राधान्य है। बाद में वेद में एकेश्वरवाद प्रविष्ट हुआ है। किन्तु वह वेद का मौलिक तत्व नहीं, बल्कि अन्यत्र प्रचलित एकेश्वरवाद का वैदिक देवों के साथ समन्वय करने का प्रयत्न है। इस एकेश्वरवाद के प्रचार में श्रमणों के अर्हन् की कल्पना ने पर्याप्त वेग दिया हो, यह सम्भव है। श्रमणों के अर्हन् मनुष्य होते थे और अपने अनुयायियों के एकमात्र उपास्य और प्रेमभाजन होते थे। ब्राह्मणों में अर्हन् की बराबरी कर सके, ऐसा कोई मानव देव नहीं था। अतएव उन्होंने क्षत्रिय कृष्ण को ही जो मूल में वसुदेव के पुत्र थे, अपना मानव देव माना और समय बीतने पर वैदिक विष्णु देवता से उनका अभेद बतलाकर ही सन्तुष्ट न हुए, किन्तु प्राकृतिक और अदृश्य यादव

1- उत्तराध्ययनसूत्र, पद्य- 13

2- अथर्व0 अ0 15 तथा भग0 गी0 5/18 व 5/26, 8, 11

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवता का उन्हीं में अभेद सिद्ध किया। इसप्रकार वैदिक ब्राह्मणधर्म और श्रमणों के धर्म का कृष्णभक्ति के रूप में समन्वय हुआ।[1]

भागवतधर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। जैनधर्म के समान यह भी मांसाहार एवं पशुहिंसा का विरोधी रहा है। किन्तु यह परम्परा भक्तिवाद पर अत्यधिक बल देती है। इसमें उपास्य के रूप में चार व्यूह माने गये है-- (1) वासुदेव, (2) संकर्षण (कृष्ण के बड़े भाई), (3) प्रद्युम्न (पुत्र), (4) अनिरुद्ध (पौत्र)। उत्तरकाल में आध्यात्मिक व्याख्या की गई। किन्तु यह स्पष्ट है कि वासुदेव आदि व्यूहों का प्रारम्भ कृष्ण और उनके परिवार की पूजा से हुआ। इतना ही नहीं कृष्ण की रानियों को भी देवी शक्तियों के रूप में पूजा गया। यह गुणों के आधार पर व्यक्ति की पूजा नहीं थी किन्तु व्यक्ति के आधार पर गुणों की व्याख्या थी। कृष्ण की प्रत्येक चेष्टा को गुण मान लिया गया। भगवान् नेमिनाथ ने व्यक्तिपूजा के स्थान पर गुणपूजा का प्रतिपादन किया। भक्ति का स्थान गुणों के प्रति श्रद्धा ने ने लिया। दोनों परम्पराओं में टकराव हुआ और परस्पर आक्षेप होने लगे। जैन परम्परा में कृष्ण की रानियों का वर्णन है जो कठोर तपस्या के द्वारा मोक्ष प्राप्त करती हैं। "ज्ञाताधर्मकथा" में कृष्ण के जीवन की घटनाओं का उल्लेख हुआ है। जैन परम्परा त्रेसठ शलाका पुरुषों के रूप में जिन महापुरुषों की गणना करती है, उनमें वासुदेव भी हैं। इसप्रकार से भगवान् नेमिनाथ के समय में जिनभक्ति का आधार आराध्य के गुणों की पूजा थी।[2]

प्रागैतिहासिक काल में जैनभक्ति का प्रभाव लक्षित होता है। प्रागैतिहासिक काल में भगवान् चन्द्रप्रभु तथा पुष्पदन्त की भक्ति का प्रचलन था। इस प्रसङ्ग में प्रो० एस० श्रीकण्ठ का निम्न मत उल्लेखनीय है--

---

1- श्रमण, जुलाई 1951, पृ० 10-11

2- जै०सा०इति०, पृ० 105-106

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"दिगम्बर जैनधर्म योगमार्ग, वृषभ आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता के साथ अद्‌भुत सादृश्य रखती है।[1] सिन्धु सभ्यता का समय ई०पू० 3000 वर्ष माना गया है। सिन्धु घाटी में मोहन जोदड़ों से प्राप्त कतिपय मुद्राओं पर खड्‌गासन मानवाकृतियां बहुत से नग्न चित्र तथा नग्न मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो कि जैन तीर्थङ्‌करों से सम्बन्ध रखती हैं।[2] ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ में भी जैनभक्ति का प्रभाव मिलता है। यह बात कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त कुषनकालीन बौद्ध स्तूप वाले शिलालेख से स्पष्ट है।[3]

इसप्रकार से जैनभक्ति भी वैदिक भक्ति की तरह वैदिकालीन सिद्ध होती है।

1- जैनधर्मदर्शन, पृ० 4

2- देखिए, वही, पृ० 4-5

3- (क) जैनसिद्धान्त भास्कर, भा० 16, किरण 2, दिसम्बर 1949, पृ० 135

(ख) शोधाङ्‌क, जैनसन्देश, दिसम्बर 1972, पृ० 292

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनभक्ति का विकास

जैनभक्ति के विकासकाल को चार युगों में विभक्त किया जा सकता है--

प्रथमयुग - 1500 ई० पूर्व से ई० सन् तक

जैनभक्ति का प्रथमयुग 1500 ई० पूर्व से ई० के प्रारम्भ तक माना गया है। इस युग में जैनभक्ति का विवेचन आगम साहित्य के अन्तर्गत किया गया है। दिगम्बर आगम साहित्य के अन्तर्गत "षट्खण्डागम" का शुभारम्भ अनादि महामन्त्र णमोकार से किया गया है।[1] षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। ईसा से 850 वर्ष पूर्व विद्यानुवाद नामक "पूर्व" के अन्तगत जैनधर्म के नमस्कार मन्त्र "णमोकार" का उल्लेख हुआ है। णमोकार महामन्त्र का सम्बन्ध पञ्चपरमेष्ठीभक्ति से है। इस महामन्त्र में पञ्चपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। पउमचरिउ, महापुराण आदि आगम साहित्य में जैन भक्ति का विवेचन मिलता है। इस युग को जैनभक्ति का आदि युग कहा जा सकता है।

द्वितीययुग : ई० प्रथम शताब्दी से 500 ई० तक

जैनभक्ति का द्वितीययुग ई० प्रथम शताब्दी से 500 ई० तक माना गया है। इस युग में जैनभक्ति का सर्वप्रथम मौलिक विवेचन आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की प्रथम शताब्दी में किया था। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति के द्वारा भगवान् जिनेन्द्र से ज्ञान प्राप्ति की याचना अपनी अनेक भक्तिपरक रचनाओं में की है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय का निर्माण किया, तो भक्तिपरक लोगस्सथुत्त, प्राकृत भक्तियां और भावपाहुड की भी रचना की।

1- (क) षट्खण्डागम, मङ्गलाचरण

(ख) महाबन्ध (धवल सिद्धान्त), भा० 1, पृ० 22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विक्रम की दूसरी शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र ने "स्वयम्भूस्तोत्र" एवं "स्तुतिविद्या" का निर्माण किया। आचार्य समन्तभद्र दार्शनिक एवं पण्डित भी थे। उन्हें भारतीय दर्शनों का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी समय के आचार्य उमास्वामी ने जैनधर्म के तत्त्वों के विवेचन का विस्तृत वर्णन किया है। जैनधर्म के सिद्धान्तों के साथ ही आचार्य उमास्वामी ने "तत्त्वार्थसूत्र" में सम्यग्दर्शन (भक्ति), ज्ञान एवं कर्म की समवेत साधना को मोक्ष का द्वार बतलाया है।

इस युग के अन्य भक्त दार्शनिकों में श्री विमलसूरि, मानतुङ्गसूरि, विद्यानन्दिपात्रकेशरी और सिद्धसेन प्रमुख हैं।

तृतीययुग : 600 ई० से 1200 ई० तक

यह युग जैनभक्ति के विकास का स्वर्णकाल रहा है। इस युग में आत्मा के ज्ञानरूप का दिग्दर्शन कराने वाला कोई जैन आचार्य ऐसा नहीं, जिसने भगवान् के चरणों में स्तुति-स्तोत्रों के पुष्प न बिखेरे हों। जैन आचार्यों ने जिनेन्द्र के अनुराग को भक्ति कहकर, वीतरागी भगवान् जिनेन्द्र और आत्मा के स्वरूप में भेद नहीं माना है। दोनों में किसी से प्रेम करना एक ही बात है और अरूपी-अदृष्ट आत्मा से प्रेम करने को रहस्यवाद कहते हैं। विक्रम की छठीं शताब्दी के आचार्य पूज्यपाद की दृष्टि में दोनों एक हैं, पर्यायवाची हैं। उन्होंने आत्मा और परमात्मा जिनेन्द्र को एक माना है। आत्मा से अनुराग करना भगवान् जिनेन्द्र से अनुराग करना है।

आचार्य योगीन्दुदेव ने भी आत्मा को परमात्मा कहकर, भक्ति का वर्णन निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा से किया है। इस युग की प्रमुख विशेषता जिनेन्द्र भक्ति से पूर्ण स्तोत्र-काव्यों की रचना रही है। स्तोत्र-काव्यों में आचार्य बप्पभट्टसूरि, भद्रबाहु, वादिराजसूरि, भट्टाकलंक, मानतुङ्ग, हेमचन्द्र, कवि धनञ्जय एवं कवि धनपाल की रचनायें उल्लेखनीय हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्ति के विकास के द्वितीय युग में जैन आचार्यों ने प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत में ही नहीं, अपितु हिन्दी, गुजराती आदि अन्य भाषाओं में जैनभक्ति की रचनाओं का निर्माण किया। इन आचार्यों में भी विमलसूरि, रविषेण, स्वयम्भु, जिनसेन, पुष्पदन्त, जिनसेन, गुणभद्र, हरिषेण, यतिवृषभ, शिवार्यकोटि, जिनदासगणी, देवसेन, प्रभाचन्द्र, सोमदेव, नेमिचन्द्र एवं वसुनन्दि प्रमुख हैं।

उपर्युक्त जैनभक्त आचार्यों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियों और संगतियों में भी वे शान्तरस से दूर नहीं हटे। उन्होंने कभी भी अपनी ओट में श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं दिया।

चतुर्थयुग : 1300 ई0 से 1900 ई0 तक

जैनभक्ति के विकास का चतुर्थ युग 1300 ई0 से 1900 ई0 तक माना गया है। तृतीय युग की तरह इस युग में भी जैनभक्ति का सर्वाङ्गीण विकास मिलता है। अनेक जैन आचार्यों, सन्तों एवं भट्टारकों का आगमन हुआ। अनेक भाषाओं में स्तोत्र साहित्य लिखा जाने लगा। वि0सं0 14वीं-15वीं शताब्दी के आचार्य सोमसुन्दरसूरि ने "षड्भाषामयस्तोत्राणि" की रचना छः भाषाओं में की। इसी समय के पण्डित आशाधर ने भक्ति से युक्त "सहस्रनामस्तवन" की रचना की, जो कालान्तर में अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ। आचार्य शुभचन्द्र ने "ज्ञानार्णव" का निर्माण कर, ज्ञान एवं भक्ति के समन्वय का प्रयास किया। श्री धर्मघोषसूरि ने महावीर की स्तुति के रूप में "महावीर कलश" की रचना की।

इस युग में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त हिन्दी में भी जैनभक्ति साहित्य का निर्माण आरम्भ हो गया। अनेक पण्डितों, सन्तों, सूरियों, भट्टारकों एवं साधारण गृहस्थों द्वारा हिन्दी का जैनभक्ति काव्य विविध रूपों में रचा गया। 15वीं शताब्दी में जैन हिन्दी भक्तिकाव्य का पूर्ण वैभव दृष्टिगोचर होता है।

इस युग के जैनभक्त कवियों ने जिनेन्द्र के स्वरूप और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण की अनुभूति, तीर्थङ्करों के प्रति कल्याणक स्तुतियां, दास्यभाव की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पणवृत्ति, आराध्य की महत्ता और अपनी लघुता की प्रतीति, दीनदयाल अशरण शरण "जिनेन्द्र" के प्रति आत्म निवेदन की भावना, अर्हन्त के प्रति अनुरक्ति तथा जगत् के प्रति विरक्ति, जिनेन्द्र के नाम जप की महिमा एवं उनके गुणों का कीर्तन, स्मरण आदि अनेक रूपों में अपनी भक्तिभावना का परिचय दिया है। शान्तरस का परिपाक इन सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में मुख्य रूप से हुआ है।

इस युग के प्रमुख भक्त कवियों में कवि बनारसीदास, सधारु, बुधजन, जिनदास, माणिक्यचन्द्र, द्यानतराय, भूधरदास एवं पण्डित दौलतराम जी उल्लेखनीय हैं।

17वीं शताब्दी के बाद निर्मित पूजापरक जैनभक्ति साहित्य का विकास तीव्रगति से आरम्भ हुआ, जो वर्तमान समय तक चल रहा है।

जैनभक्ति साहित्य

जैनभक्ति साहित्य की गाथा भगवान् महावीरसे प्रारम्भ होती है क्योंकि 23वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथकालीन साहित्य के सङ्केत आज उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध समस्त जैन साहित्य का मूल भगवान् महावीर की दिव्यवाणी है। यह दिव्यवाणी केवलज्ञान होने के बाद 30 वर्ष तक निःसृत होती रही। महावीर के शिष्य गौतम ने इसे हृदयङ्गम कर बारह अङ्गों में निबद्ध किया था, इसी कारण इसे द्वादशाङ्गवाणी कहा जाता है।[1] गौतम गणधर ने इसमें प्रतिपादित अर्थ को महावीर के मुख से श्रवण किया था। इस कारण इसे "श्रुत" नाम दिया गया है। महावीर इसके अर्थकर्ता कहलाते हैं। गौतम ने इसे ग्रन्थ का रूप दिया इसलिए वे आद्यग्रन्थकर्ता हुये। आगमों की संख्या के विषय में मतभेद मिलता है।

1- जै०सा०इति०, प्राक्कथन, पृ० 6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कालदोष से जैन आगम ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं जबकि श्वेताम्बर परम्परा में जैन आगम ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है।[1]

प्रारम्भ में जैनाचार्य और जैन मनीषी प्राकृत भाषा में ही अपने ग्रन्थों का प्रणयन करते रहे क्योंकि प्राकृत जन सामान्य की भाषा थी। किन्तु बाद में संस्कृत में भी लिखने लगे। कालक्रम और भाषाओं के विस्तार के कारण जैन मनीषियों ने अपभ्रंश प्राकृत, संस्कृत के अतिरिक्त कन्नड़, तमिल, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में जैन साहित्य लिखा है। कन्नड़, गुजराती भाषाओं में प्रचुर जैन साहित्य लिखा गया।

जैनभक्ति साहित्य का प्रारम्भिक विकास प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के स्तुतिपरक साहित्य के रूप में विक्रम की प्रथम शताब्दी से ही मिलता है। इस परम्परा में आचार्य पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद एवं समन्तभद्र आदि का नाम सर्वोपरि है। जैन साहित्य के अन्तर्गत भक्ति का जो साहित्य मिलता है उसका विवेचन भाषा भेद से चार भागों में विभक्त करके प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्राकृत साहित्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम भक्ति का स्वतन्त्र विवेचन "प्राकृत दशभक्ति" नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत किया है। "नियमसार" में गाथा 134 से 140 तक परम-भक्तिरूप आवश्यक क्रिया का निरूपण है, जिसमें सम्यक्त्व व ज्ञान भक्ति, निर्वाण-भक्ति, मोक्षगत पुरुषों की भक्ति एवं योगभक्ति[2] का उल्लेख आया है। कुन्दकुन्दकृत उपलब्ध दशभक्तियों के नाम ये हैं--

1- तीर्थङ्करभक्ति-- तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थङ्कर कहलाता है।

1- जै०सा०इति०, प्राक्कथन, पृ० 6,7

2- योगिभक्ति, गा० 20, 21, 22 तथा 23

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2- सिद्धभक्ति-- आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त, परिसमाप्तकार्य और मोक्ष में विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं।

3- श्रुतभक्ति -- श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र "श्रुत" कहलाता है।

4- चारित्रभक्ति-- जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाये या आचरण करना मात्र चारित्र कहलाता है। यहाँ चारित्रभक्ति से तात्पर्य सम्यक्चरित्र से है।

5- योगिभक्ति-- अष्टांग योग को धारण करने वाला योगी कहलाता है।

6- आचार्यभक्ति-- आचार्य वह है, जिसके उत्तम चारित्र का अन्य लोग अनुकरण करने लगें।

7- निर्वाणभक्ति-- जो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं उनकी भक्ति करना निर्वाण - भक्ति है।

8- पञ्चपरमेष्ठीभक्ति-- अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु की भक्ति करना पञ्चपरमेष्ठी भक्ति है।

9- नन्दीश्वरभक्ति-- नन्दीश्वर-द्वीप के अकृत्रिम जिनमन्दिरों और उनमें विराजमान जिनप्रतिमाओं की पूजा-अर्चा करना, नन्दीश्वरभक्ति कहलाती है।

10- चैत्यभक्ति-- चैत्य-वृक्ष, चैत्य-सदन, प्रतिमा, बिम्ब और मन्दिरों की पूजा-अर्चा चैत्यभक्ति कहलाती है।[1]

ये भक्तियाँ उनके नामानुसार वन्दनात्मक व भावनात्मक हैं। सिद्धभक्ति की गाथा संख्या कुछ अनिश्चित है। अन्तिम दो अर्थात् नन्दीश्वरभक्ति एवं शान्तिभक्ति जिस रूप में मिलती है, उसमें केवल अन्तिम कुछ वाक्य प्राकृत में हैं। उनका पूर्ण प्राकृत पाठ अप्राप्य है। ये भक्तियाँ प्रभाचन्द्रकृत संस्कृत टीका

1- प्राकृतदशभक्तिसंग्रह, गा0-8,10,11,12,23,10,20;7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहित "क्रियाकलाप" नाम से प्रकाशित हुई है। प्राकृतभक्तियों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द ने बोधपाहुड, मोक्षपाहुड, सूत्रपाहुड, चारित्रपाहुड, भावपाहुड, दर्शनपाहुड, लिङ्गपाहुड, शीलपाहुड एवं समयसार में भी भक्ति का विवेचन किया है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द के उपास्य अर्हन्त देव तथा सिद्ध भगवान् हैं। कुन्दकुन्द की भक्ति सरल एवं विशुद्ध चित्त से बहती है। इनकी भक्ति निश्चयनय होने से परमार्थ की ओर ले जाने वाली है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति (सम्यग्दर्शन) द्वारा जीव को निर्वृत्ति प्राप्ति की बात कही है। यथा--

"सम्मत्तणाण चरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदि भत्ती होदि जिणेहिं पण्णत्तं ।।"[2]

उन्होंने आगे कहा है कि व्यवहारनय की प्रधानता से मोक्षगामी पुरुषों की तीर्थङ्करों की भक्ति करनी चाहिए। वे उपसंहार में कहते हैं--

"उसहादि जिणवरिंदा एवं काऊण जोगवर भत्तिं।
णिव्वुदि सुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवर-भत्तिं।।"[3]

आचार्य कुन्दकुन्द की भक्ति की परिणति पुण्य पाप से निरपेक्ष होकर शुद्ध निश्चय परमात्मा की तथा सिद्ध भक्ति की ओर अधिक ज्ञात होती है। वे भक्ति को मुक्ति का कारण मानते हैं। यथा--

"सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरंणिव्वाणं संजमतवसंपओ तस्स ।।"[4]

1- कुन्दकुन्दभारती, पृ० 7
2- नियमसार, गा० 134
3- देखिए, वही, गा० 140
4- पंचास्तिकाय, गा० 170

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार से आचार्य कुन्दकुन्द की भक्ति शुद्धोपयोग की है, जो कि विस्तार से भक्ति पाठों में बहती है। उनकी भक्ति में भावोत्कटता, विचार-तर्क-परीक्षिता की अपेक्षा अधिक है। उनकी भावभक्ति-गंगा पर चित्त की सरलता का सौन्दर्य झलक रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अतिरिक्त प्राकृत भक्ति साहित्य के अन्तर्गत आचार्य वट्टकेर का मूलाचार, शिवार्यकोटिकृत भगवती आराधना, वसुनन्दि का उपासकाध्ययन एवं वसुनन्दिश्रावकाचार, हरिभद्र का योगविंशति तथा योगशतक, मानतुङ्गसूरिकृत भयहरस्तोत्र आदि प्रमुख ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं।

<u>संस्कृतभक्ति साहित्य</u>

जैन साहित्य की विशाल धारा ईसा की 5-6वीं शती पूर्व से अब तक अनवरत बहती आ रही है। प्रारम्भिक शताब्दियों में यह अर्धमागधी तथा अन्य प्राकृतों में लिखा जाता था। ईसा की तीसरी शताब्दी से अब तक जैन विद्वानों ने प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साथ संस्कृत में भी साहित्य का सृजन किया है। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वामी को सर्वप्रथम लेखक माना जाता है। इनके बाद समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक, हरिभद्र आदि विद्वान् आचार्यों ने इस भाषा को समृद्धि प्रदान की। मध्यकालीन युग में जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की है। ऐसा कोई भी अङ्ग शेष नहीं रहा जिस पर कि मौलिक कृतियां न रची गई हों। दूसरे शब्दों में मध्यकालीन युग जैन संस्कृत साहित्य के लिए स्वर्णयुग रहा है।

संस्कृत में जैनों का भक्तिकाव्य बहुत विशाल है। इसे स्तुति-स्तोत्र या स्तवसाहित्य भी कहा जा सकता है। विद्वानों का मत है कि जैनभक्ति का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत दशभक्तियों में तथा आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत दशभक्तियों में किया है। तदनन्तर अनेक जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य में भक्ति का वर्णन कर अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया है। इस सम्बन्ध में संस्कृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के विभिन्न जैन स्तोत्रों का उल्लेख मिलता है। जैन स्तोत्रों में कुछ तो विशिष्ठ तीर्थङ्कर और मुनियों की स्तुति रूप में हैं तथा कुछ 24 तीर्थङ्करों के साथ उनके शासनदेव-देवियों की स्तुति के रूप में हैं । इनमें कई स्तोत्र तो शब्दालंकारों से पूर्ण तथा श्लेषमय भाषा में रचे गये हैं। बहुत से तो पादपूर्ति के रूप में और कितने ही तार्किक शैली में लिखे गये हैं।

जैन संस्कृत साहित्य में सबसे प्रिय दो स्तोत्र माने गये हैं-- प्रथम तो आचार्य मानतुङ्ग का "भक्तामरस्तोत्र" जो कि प्रथम तीर्थङ्कर की स्तुति के रूप में रचा गया है और द्वितीय सिद्धसेन अपर नाम कुमुदचन्द्र का "कल्याण-मन्दिरस्तोत्र" जिसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। यह भक्तामर स्तोत्र की अपेक्षा कुछ अलंकारमय काव्य है। इसी तरह कवि धनन्जय का "विषापहारस्तोत्र" (9वीं शती) और कवि वादिराजसूरि का "एकीभावस्तोत्र" (11वीं शती) भी जैन संस्कृत साहित्य में प्रिय है। 24 तीर्थङ्करों में ऋषभदेव, शीतलनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के नाम पर अनेक स्तुतियां लिखी गई हैं। चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति के रूप में आचार्य समन्तभद्र का "स्वयम्भूस्तोत्र" महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बप्पभट्टसूरि की चतुर्विंशतिका एवं शोभनमुनिकृत "शोभन स्तुति" अपरनाम "चतुर्विंशतिजिनस्तुति" आदि स्तुतियां यमक अलंकार प्रधान है। श्लेषमय स्तोत्रों में विवेकसागररचित "वीतरागस्तव" नयचन्द्रसूरिकृत "स्तम्भपार्श्वस्तव" आदि अनेक स्तोत्र हैं। इसी तरह पादपूर्ति स्तोत्रों की संख्या भी अत्यधिक है। उसमें भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्रों के छन्दों को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में "ऋषभ भक्तामर" (समयसुन्दरगणिकृत), शान्तिभक्तामर (लक्ष्मीतिलककृत), वीरभक्तामर (श्रीधर्मवर्धनगणिकृत) एवं अभिनवकल्याणमन्दिरस्तोत्र (भावप्रभसूरीकृत) आदि उल्लेखनीय है।[1]

1- श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0 214

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य जैन संस्कृत भक्ति साहित्य में आचार्य समन्तभद्रकृत समीचीन धर्मशास्त्र, वसुनन्दिकृत श्रावकाचार, देवसेनरचित भावसंग्रह, शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव, पूज्यपादकृत समाधितन्त्र तथा इष्टोपदेश, पं० आशाधरकृत जिनसहस्रनाम, जिनेश्वरसूरिकृत अम्बिका स्तुति तथा अमितगति द्वारा रचित सामायिक पाठ आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त जैन संस्कृत भक्ति साहित्य में जैन पूजा-वन्दना साहित्य भी आ जाता है।

आचार्य समन्तभद्र जैनभक्त कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आचार्य समन्तभद्र अलौकिक प्रतिभा और सरसहृदय के धनी थे। उन्होंने स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या का निर्माण किया। दोनों में भक्तिरस है- वैसा ही चरम आनन्द। भारत के भक्ति साहित्य को उनकी एक अनूठी देन मानना चाहिए। उनके उपास्य अर्हन्त एवं सिद्ध भगवान् दोनों ही हैं। समन्तभद्र की अर्हन्त भक्ति तो उनकी नस-नस में से फूट रही है। श्रावकाचार के अतिरिक्त सभी स्तोत्र ग्रन्थ तत्त्व का दार्शनिक तथा तान्त्रिक पुट लेकर अन्तर्बाह्य भक्ति से आप्लावित हैं। इनकी भक्ति व्यवहार मार्ग की तथा आगे तीर्थङ्कर प्रकृतिबंध के रूप में सातिशय पुण्य प्राप्त करने तथा परम्परा से मोक्ष माने वाली है। समन्तभद्र की भक्ति सिर्फ मुनि श्रमणों के लिये नहीं, बल्कि श्रावक के लिये भी है। वृषभादि 24 तीर्थङ्करों की भक्ति में उनकी आत्मा इतनी तन्मय हो गई थी कि उन्हीं के शब्दों में उन्हें यह एक व्यसन हो गया था। जिनभक्ति का उद्देश्य उन्होंने कितने ही स्थलों पर किया है। वे कहते हैं--

"तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः।"

आपकी भक्ति में मुझे कल्याणकारी परम्परा का सामर्थ्य मिल जाय। और भी जो कुछ कह रहा हूँ वह--

"पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपका नामोच्चारण हमें पवित्र करें। इसलिए कुछ कहता हूँ। अर्हत् जिन के "वीतरागी" और "निर्वैर" हो चुकने से उन्हें स्तुति पूजा तथा निन्दा से कुछ मतलब नहीं है। उनका पुण्य गुणों स्मरण ही चित्त का दुरित पाप नष्ट करने में समर्थ है।[1]

आचार्य समन्तभद्र आराध्य की भक्ति, पूजन, अर्चनादि कर्म में सावद्य लेश होने पर भी परवाह नहीं करते। यह सावद्यलेश "बहुपुण्यराशि" के सामने नहीं के बराबर है। इसप्रकार यहकहना अनिवार्य हो जाता है कि समन्तभद्र की भक्ति शुभोपयोगयुक्त थी।[2]

आचार्य समन्तभद्र ने अपनी भक्तिभावना को गागर में सागर भरने की तरह एक ही श्लोक में व्यक्त की है। यथा--

"सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते।
हस्तावंज्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोक्षि संप्रेक्षते ।
संस्तुत्यां व्यसनं शिरोनति परं सेवेदृशी येन ते ।
तेजस्वी सुजनोहमेव सुकृती तेनैव तेजः पते ।।"[3]

कितनी गाढ़ भक्ति की यह उत्कटता। शरीर का एक भी अवयव वे जिनभक्ति के बिना खाली रखना, दूसरे काम में लगाना पसन्द नहीं करते। इस एक ही पद्य में जिनभक्ति का सारा भाव भरा हुआ है। समन्तभद्र की अर्हत् भक्ति का उद्देश्य है अर्हत् के समान बनने का। इसलिए वे बार-बार कहते हैं--

"जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ।"

1- स्वयम्भूस्तोत्र, 12/2

2- देखिए, वही, पद्य- 12/3

3- स्तुतिविद्या, पद्य-114

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार से आचार्य समन्तभद्र की भक्ति धूप की रोशनी के समान प्रखर तेज: पुन्ज है। उसमें विचार परीक्षा, तत्त्वनिष्ठा, स्वाभिमान और गाढ श्रद्धा का प्रचण्ड सामर्थ्य एक प्रकार से कूट-कूटकर भरा है। आचार्य पूज्यपाद एक ओर जैन सिद्धान्त के पारगामी विद्वान् थे, तो दूसरी ओर उन्हें एक भावुक भक्त का हृदय मिला था। उन्होंने जहाँ तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि जैसे महाभाष्य की रचना की, तो संस्कृत भाषा में जैन भक्तियों पर अनेक स्तोत्रों का भी निर्माण किया।

आचार्य भट्टाकलंक एक प्रसिद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने राजवार्तिक का निर्माण किया। दर्शन के क्षेत्र में इस ग्रन्थ की ख्याति है। दूसरी ओर उन्होंने अकलंक-स्तोत्र की रचना की। उसका सम्बन्ध विशुद्ध भक्ति से है।

आचार्य सिद्धसेन नैयायिक थे किन्तु कल्याणमन्दिर स्तोत्र उनके सरल हृदय का प्रतीक है। सिद्धहेमव्याकरण के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, सिद्धान्त के अप्रतिहत विद्वान् थे। उन्हें भी हृदय भक्त का मिला था। अर्हन्तस्तोत्र, महावीरस्तोत्र और महादेवस्तोत्र इसके प्रमाण है। पात्रकेशरी की विद्वत्ता के क्षेत्र में ख्याति थी। उन्होंने एक ओर "विलक्षणकदर्शन" लिखा तो दूसरी ओर "पात्रकेशरीस्तोत्र" की रचना की।

आचार्य मानतुङ्ग के भक्तामरस्तोत्र की तो संसार के विद्वानों ने प्रशंसा की है। वह एक भक्तहृदय का सरस निदर्शन है।

सारांश यह है कि शायद ही ऐसा कोई जैन आचार्य हो, जिसने सैद्धान्तिक विद्वत्ता के साथ-साथ भक्तिपरक काव्यों की रचना न की हो।

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश के "नाभेयचरिउ" में महाकवि पुष्पदन्त ने भक्ति का यत्र-तत्र वर्णन किया है। कवि की सृजन प्रेरणा का मूल कारण धर्म के अनुशासन का आनन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् भक्ति है। कवि कहता है--

"धम्माणुप्रासणाणंद भरिउ ।
पुणु कहमि विरहु णाभेयचरिउ।।"

आचार्य पुष्पदन्त की भक्ति चेतना दो रूपों में व्यक्त हुई है। प्रथम, दूसरे पात्रों के द्वारा की गई स्तुति के रूप में। द्वितीय, कवि की सीधी उक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष कथन के रूप में।

इन्द्र ऋषभ भगवान् के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त करने के लिए स्पष्ट शब्द नहीं पा रहा है--

"जइ पइं जि पइं भणिमि। ता परमेसर किं तइं थुणिमि।
जो कहइ कवण कइ कव्वेण। जिणवर तुह गुणरासि ।
सो गिरु लहुएण- कर चुलएण। मुढ मवइ जलरासि ।।"[1]

अर्थात् हे परमेश्वर। यदि मैं आपको आपके समान बताता हूं तो मैं आपकी क्या स्तुति करता हूं। जो कवि अपने द्वारा रचित काव्य से तुम्हारी गुण राशि का कथन करना चाहता है, वह मूर्ख अपनी करछुल से समुद्र को मापना चाहता है। इन्द्र अपनी भक्ति का फल मांगते हुए कहता है कि जहां जन्म-मरण, कर्म और पाप नहीं हैं, हे जिन। मुझे उस लोक में ले चलिए।

"नाभेयचरिउ" में आराध्य की महत्ता, जीवन की यथार्थ स्वीकृतियां और भक्त की आत्मग्लानि का सच्चा चित्रण है।

कवि पुष्पदन्त के समय अर्थात् दसवीं सदी में शैव और वैष्णव भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत में तीव्रता से बढ़ रहा था। ईश्वरवादी दर्शनों में भक्ति ईश्वर के साक्षात्कार का साधन मानी जा चुकी थी। कवि पुष्पदन्त

1- नाभेयचरिउ, 3/18

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने मन का तर्क देवेन्द्र के माध्यम से इस प्रकार रखते हैं-- "हे प्रभु, आपको न तो वन्दना करने से संतोष होता है और न निन्दा करने से किसी प्रकार की ईर्ष्या। फिर भी आप अनतों के लिए दुःख और प्रणतों के लिए सुख देते हैं। आप कर्मों का नाश करने वाले वीतराग हैं। आप हिंसा से रहित परम धर्म हैं। फिर भी जो तुम्हारी सेवा करता है, उसे सुख होता है, जो तुमसे प्रतिकूल है, उसे दुःख मिलता है। लेकिन आप दोनों स्थितियों में मध्यस्थ हैं। यह स्पष्टतः वस्तु का स्वभाव है। पित्त रोगवाले के द्वारा सूर्य की निन्दा की जाती है और वायुविकार वालों द्वारा चन्द्रमा की। वस्तुतः वे दोनों किसी का कुछ नहीं करते, वे तो स्वभाव से आकाशतल में विचरण करते हैं, जो तालाब को दोष लगाकर उसका पानी नहीं पीता, वह प्यास से मर जाता है। लेकिन जो उसका पानी पी लेता है उसकी प्यास बुझ जाती है, परन्तु सरोवर का न इससे मतलब और न उससे। जिस प्रकार गरुड़ मन्द स्वभाव से सांप का नाश करने वाला होता है उसी प्रकार आप स्वभाव से पाप का नाश करने वाले हैं।"[1]

स्पष्टतः प्रतीत होता है कि जैनधर्म में भक्ति और उसका फल भक्त-सापेक्ष है। उसका एकमात्र लक्ष्य मन की विश्रांति से उत्पन्न सुख है।

कवि पुष्पदन्त के काव्यसर्जन की मूल प्रेरणा भक्ति है जो उसके सर्जन के समूचे आकाश को घेरती है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति धर्म के अनुशासन का आनन्द तभी उठा सकता है जब वह एक ओर तो अपनी बाह्य प्रवृत्तियों पर अंकुश रखे और दूसरी ओर उसमें भक्ति की सच्ची अनुभूति हो। उसकी भक्ति में जीवन की यथार्थ अनुभूतियों का संस्पर्श है और उसका लक्ष्य चित्त की विश्रांति से प्राप्त सुख को पाना है। इसप्रकार उसमें समकालीन भक्तिधारा और वीतराग

1- णाभेयचरिउ, 10/6-7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेतना का समन्वय है।

"नाभेयचरिउ" के अतिरिक्त अपभ्रंश जैनभक्ति साहित्य में मुनि कनकामरकृत करकंडचरिउ, पुष्पदन्त का जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ एवं महापुराण, आचार्य देवसेन का सावयधम्मदोहा, आचार्य योगीन्दुदेव का परमात्मप्रकाश योगसार, मुनि रामसिंहकृत पाहुडदोहा, स्वयम्भू का पउमचरिउ, सोमसुन्दरसूरि का षड्भाषामयस्तोत्राणि, श्री शान्तिसूरि का शान्तिस्तव एवं जिनकीर्तिकृत षड्भाषामयस्तव आदि रचनायें प्रमुख हैं।

जैन हिन्दी भक्ति साहित्य

हिन्दी की सगुणधारा मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की तीर्थङ्कर-भक्ति के रूप में विशेष रूप से प्राप्त होती है। तीर्थङ्कर को सगुण और सिद्ध को निर्गुण कहा जा सकता है। एक ही जीव तीर्थङ्कर और सिद्ध दोनों ही हो सकता है। हिन्दी जैन साहित्य की भक्तिपरक प्रवृत्तियों का विकास किसी न किसी रूप में वि०सं० 990 से सं० 1900 तक होता रहा है। इसका प्राचीनतम रूप आचार्य देवसेन के "श्रावकाचार" में देखा जा सकता है। नाथ-सिद्ध-युग में हिन्दी की जैनभक्ति रचनाओं का प्रारम्भ भलीभांति हो चुका था। 15वीं शताब्दी में इस जैनभक्ति का पूर्ण वैभव दृष्टिगोचर हुआ।

हिन्दी का जैन भक्तिकाव्य भट्टारकों, सूरियों, संतो, पण्डितों और साधारण गृहस्थों द्वारा अनेक रूपों में रचा गया। जैन भक्त आचार्यों ने उस राग को भक्ति कहा है जो "अर्हन्त" आचार्य आदि के प्रति शुद्ध भाव से किया जाए। हिन्दी जैन भक्ति काव्य में यह रागात्मक भाव अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इसके अन्तर्गत दाम्पत्य रति को विशेष महत्व प्राप्त है। चेतन को पति और सुमति को पत्नी मानकर इस दाम्पत्य रति की सूक्ष्म व्यंजना हुई है। आध्यात्मिक विवाह के रूपक के माध्यम से भी इस भक्तिभाव का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उद्‌घाटन हुआ है। जैनभक्त कवियों ने आध्यात्मिक "फागुओं" की भी रचना की है जिनमें चेतन अपनी सुमति आदिक पत्नियों के साथ सूक्ष्म फाग खेलता है। यत्र-तत्र प्रेम, सौन्दर्य और विरह की कथायें भी सूक्ष्म रागबोध के धरातल पर प्रस्तुत हुई हैं। मङ्गलाचरणों के रूप में भी जैन भक्तिभावना का अनेक रूपों में वर्णन हुआ है।

जैनभक्त कवियों ने जिनेन्द्र के स्वरूप और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण की अनुभूति, तीर्थङ्करों के प्रति कल्याणक स्तुतियां, दास्यभाव की समर्पण वृत्ति, आराध्य की महत्ता और अपनी लघुता की प्रतीति, दीनदयालु अशरण शरण "जिनेन्द्र" के प्रति आत्मनिवेदन की भावना, जिनेन्द्र के नामजप की महिमा तथा उनके गुणों का कीर्तन, स्मरण एवं दर्शनेच्छा, अर्हन्त के प्रति अनुरक्ति, जगत् के प्रति विरक्ति आदि अनेक रूपों में अपनी भक्तिभावना का परिचय दिया है।[1] शान्तरस का परिपाक इन सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों में मुख्यरूप से हुआ है। प्रसिद्ध जैनभक्त कवि बनारसीदास ने शान्तरस को रसराज कहकर जैन हिन्दी भक्तिकाव्य की शान्तरसपरक प्रवृत्ति की पुष्टि की है।

हिन्दी जैनभक्ति साहित्य की व्यवस्थित परम्परा 15वीं शताब्दी विक्रमी से उपलब्ध होती है। इस परम्परा के कवियों में निम्नलिखित प्रमुख हैं--

राजशेखरसूरिकृत नेमिनाथ फागु, सधारु का परदवणु चउपई, विनयप्रभ उपाध्याय का गौतमरासा एवं सीमंधरस्वामी स्तवन, मेरुनन्दन उपाध्यायकृत अजितशान्तिस्तवन, विद्धणु का ज्ञानपंचमी चउपई, सोमसुन्दरसूरि द्वारा लिखित नेमिनाथ नवरसफागु एवं आराधनारास, हीरानन्दसूरि का विद्याविलासपवाडो,

---

1- अध्यात्मपदावली, पृ0 266, आनन्दघन, पृ0 61, भूधरदास, जैनशतक, पृ013, अध्यात्मपदावली, पृ0 243, बुधजनपदावली, पद- 116, 173, 111, 139

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भट्टारकसकलकीर्तिकृत आराधना प्रतिबोधसार, ब्रह्मजिनदास का श्रेणिकरास, ईश्वरसूरिकृत ललितांगचरित्र, वल्हमल का नेमीश्वरगीत, बनारसीदासकृत नवरस रचना, नाममाला, नाटकसमयसार एवं बनारसी विलास, आनन्दघन द्वारा रचित चौबीसी एवं आनन्दघन बहत्तरी आदि।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मरायमल्ल, बुधजन, जिनदास, हेमविजय, माणिकचन्द्र, जगजीवन, पं० मनोहरदास, पं० हीरानन्द, जिनहर्ष, वीरचन्द, जगतराम, भैया भगवती दास, ध्यानतराय, विद्यासागर, किशनदास, बिहारीदास, भूधरदास, पं० दौलतराम जी, भागचन्द्र, भवानीदास आदि कवियों ने भी भक्तिपरक रचनाओं का निर्माण किया है। 17वीं शताब्दी के बाद पूजापरक जैनभक्ति साहित्य का निर्माण तीव्र गति से आरम्भ हुआ, जो वर्तमान समय तक चल रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय अध्याय

भक्ति का स्वरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-5

भक्ति का स्वरूप

व्युत्पत्ति

"भक्ति" शब्द की व्युत्पत्ति है- भज्+क्तिन् (भावार्थक)। "भज्" धातु का अर्थ "सेवा करना" या "भजना" है।[1] इसमें अनन्य श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आराध्य (इष्टदेव) के प्रति अनुरक्ति आवश्यक है। "भज्यते अनया इति भक्तिः" "भजन्ति अस्मिन्निति भक्तिः" एवं "भजनं भक्तिः" इस तरह भक्ति शब्द की क्रमशः करण एवं अधिकरण भाव अर्थ में भी व्युत्पत्ति की जाती है।[2]

भक्ति के विभिन्न नाम

जैन साहित्य में भक्ति का उल्लेख विभिन्न नामों से अभिव्यक्त हुआ है। भक्ति को वैयावृत्य, श्रद्धा, सेवा, अनुराग एवं सम्यग्दर्शन आदि शब्दों से अभिहित किया गया है।

1- वैयावृत्य

वैयावृत्य की व्युत्पत्ति "व्यावृत्तिःदुखनिवृत्तिः प्रयोजनं यस्य तद् वैयावृत्यम्"[3] के अनुसार दुःखनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्य कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति को वैयावृत्य कहा है। उनका कथन है--"हे मुने! भक्तिपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार जिनभक्ति में तत्पर, दशभेदवाले वैयावृत्य को सदा करो।"[4]

1- अभि० रा० को०, भा० 5, पृ० 1365
2- अष्टाध्यायी, वार्तिक, 3/3/94
3- रत्न० श्रा०, पृ० 199
4- णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥
-- अष्टपाहुड, भावपाहुड, गा० -105

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के साधुओं की सेवा-टहल करना, दश प्रकार का वैयावृत्त्य है।[1] यह विभाजन वैयावृत्त्य के योग्य पात्र भेद के आधार पर किया गया है। जो व्रताचरण धारण करावें, प्रायश्चित्त दें, समस्त प्रकार के शास्त्रों के जानकार हों और पंचाचार के धारियों में श्रेष्ठ हों, उन्हें आचार्य कहते हैं। जो व्रतशील भावना के आधार हों और जिनके निकट मुनिगण शास्त्राध्ययन करें, वे उपाध्याय हैं। उपवासादिक महातप करने वाले को तपस्वी कहते हैं। जो श्रुतज्ञान के अध्ययन करने में तत्पर और व्रत भावनादि में निपुण हों, उसे शिष्य या शैक्ष कहते हैं, जिनका शरीर रोगादिक से क्लेश रूप हो, उसे ग्लान कहा गया है, जो बड़े मुनियों की परम्परा के हों, वे गण हैं। दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा कुल है। चतुर्वर्णश्रमणों के समूह को संघ कहते हैं। चिरप्रव्रजित पुराने साधक साधु हैं। अभिरूप को मनोज्ञ कहते हैं अथवा लोक में जो विद्वान् वाग्मी महाकुलीन आदि रूप से प्रसिद्ध हो गये हों वे मनोज्ञ हैं।[2]

इन दश प्रकार के साधुओं का वैयावृत्त्य करना अर्थात् शरीर सम्बन्धी व्याधि या दुष्ट जनों के किये हुये उपसर्गादिक में सेवा-टहल करना, दवाई वगैरह देना दश प्रकार का वैयावृत्त्य है। इस तरह वैयावृत्त्य सेवा का ही पर्यायवाची है। आचार्य समन्तभद्र ने संयमीजनों की सेवा को वैयावृत्त्य कहा है। उनका कथन है;- "गुणों में प्रेम से संयमियों (व्रतियों) के दुःखों को दूर करना, पैरों को दबाना तथा और जो भी उनका उपकार करना है वह सब वैयावृत्त्य

1- "आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ।।"
-- त०सू०, 9/24

2- (क) तत्त्वार्थवार्तिक, 9/24

(ख सर्वार्थसिद्धि, 9/24

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहलाता है।"[1]

देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी के दो प्रकार माने गये हैं।[2] इनके ऊपर यदि बीमारी आदि अनेक तरह की विपत्तियां आयें तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना उनके पैर आदि अङ्गों का मर्दन करना एवं इसके अतिरिक्त और भी जितनी अन्य समयानुकूल सेवा है वह सब वैयावृत्त्य है। यह वैयावृत्त्य किसी दृष्टफल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश से की जाती है।

आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि को दश प्रकार वैयावृत्त्य के बतलायें हैं वे पात्र की दृष्टि से कहे गये हैं। दान की अपेक्षा से भी वैयावृत्त्य के चार प्रकार हैं-- आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान।[3]

आचार्य समन्तभद्र ने अर्हत्पूजा का भी वैयावृत्त्य में अन्तर्भाव किया है।[4]

श्री शिवार्यकोटि ने आचार्य, उपाध्याय एवं साधु के अतिरिक्त रत्नत्रय के धारक अर्हन्त एवं सिद्ध की भक्ति को भी वैयावृत्त्य कहा है।[5]

1- "व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ।। --सर्वा०धर्मा०, 5/22

2- गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा०- 476-477

3- "आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्त्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ।। --रत्न०श्रा०,पद्य-117

4- "देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम् ।।
-- रत्न०श्रा०, पद्य- 119

5- "अरहंतसिद्धभत्तीगुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य।।--भ०आ०, गा०-22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह संयमियों की सेवा-टहल ही वैयावृत्य है। वैयावृत्य बिना भक्ति के सम्भव नहीं है। इसके महत्त्व को ध्यान में रखकर ही वैयावृत्य को तप के अन्तरङ्ग भेदों में गिनाया गया है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है।

2- <u>श्रद्धा</u>

भक्ति के पर्यायवाची शब्दों में श्रद्धा का प्रमुख स्थान है। आचार्य हेमचन्द्र ने "प्राकृत व्याकरण" में[1], आचार्य समन्तभद्र ने "समीचीन धर्मशास्त्र" में[2] भक्ति को श्रद्धा से अभिहित किया है। पाइअसद्दमहण्णव में[3] भक्ति के पर्यायवाचियों में सेवा के साथ श्रद्धा की भी गणना की गई है।

जैन साहित्य में श्रद्धा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उससे मोक्ष का द्वार खुल जाता है। श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।[4] आचार्य समन्तभद्र आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[5] आप्तादि का श्रद्धान अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वार्थ का श्रद्धान एक ही हैं, उसमें भेद नहीं हैं। सम्यग्दर्शन मोक्षप्राप्ति का प्रथम सोपान है।[6] दर्शन शब्द "दृशि"

1- प्राकृतव्याकरण, 2/159

2- "अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ता: स्वर्गे ।
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरूपैति भव्य: ।।" --समी०धर्म०, 1/37-41

3- पाइअसद्दमहण्णव, पृ० 796

4- "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।" — त०सू०, 1/2

5- "श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।"--रत्नश्रा०, पद्य-4

6- (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।" त०सू०, 1/1
(ख) "जीवहं मोक्खहं हेउ वरुदंसणु णाणु चरित्तु।" -- पर०प्र०, 2/12

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन में पड़े हुए "दर्शन" को श्रद्धान कैसे मान लिया जाये? उत्तर देते हुए आचार्य भट्टाकलंक ने कहा है, धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए उनमें से श्रद्धान अर्थ ले लिया जायेगा। चूंकि यहां मोक्ष का प्रकरण है, अतः दर्शन का देखना अर्थ इष्ट नहीं है अपितु तत्त्वार्थ श्रद्धान अर्थ ही इष्ट है।[1]

दर्शन शब्द के देखना अर्थ को दृष्टि में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है;[2] किन्तु आत्मा का दर्शन तब तक नहीं हो सकता, जब तक ऐसा करने की श्रद्धा जन्म न ले। श्रद्धापूर्वक किया गया प्रयास ही "आत्मदर्शन" कराने में समर्थ होगा।[3] यह श्रद्धान आत्मा की पर्याय है। आत्मा ही श्रद्धान रूप से परिणत होता है।[4]

जैन साहित्य में श्रावक शब्द का उल्लेख हुआ है। इस शब्द में "श्रा" का अर्थ श्रद्धान किया गया है।[5] श्रावक केवल श्रद्धा करता है और ऐसा करने से उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शन के दो भेद माने गये हैं-- सराग सम्यग्दर्शन एवं वीतराग सम्यग्दर्शन।[6] सरागियों अथवा श्रावकों को होने वाला

1- "दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेत्, न, अनेकार्थत्वात् । मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः ।" -- तत्त्वार्थवार्तिक, 1/2

2- "तह सेडिया दु ण परस्स सेडिया य सा होइ ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दसणं तं तु ।।"--स०सा०,गा०-359

3- "स एवात्मपरिणामः।" --तत्त्वार्थवार्तिक, 1/2

4- देखिए, वही, 1/2

5- "श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः।"
-- अभि० रा० को०, देखिए, "सावय" शब्द

6- "तद् द्विविधं, सराग-वीतरागविषयभेदात् ।"
-- स०सि० , 1/2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है।[1] ऐसा श्रावक केवल बाह्य रूप से रागी दिखायी देता है, किन्तु उसका अन्त:करण तो पवित्र श्रद्धा से युक्त रहता है। श्रावक, श्रद्धा के द्वारा ही आत्म साक्षात्कार का फल पा लेता है। वह अपनी आत्मा को देखने का प्रयास नहीं करता, अपितु जिनेन्द्र में श्रद्धा करता है। जिनेन्द्र का स्वभाव रागादि से रहित, शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। इसप्रकार से जो अर्हन्त को जानता है, वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को ही जानता है और जो अर्हन्त के स्वरूप में स्थिर रहता है, वह अपने आत्मस्वरूप में ही स्थिर रहता है।[2]

आचार्य समन्तभद्र के श्रद्धा के स्थान पर सुश्रद्धा का प्रयोग किया है।[3] श्रद्धा तो अन्ध भी हो सकती है, किन्तु सुश्रद्धा के ज्ञानचक्षु सदैव खुले रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक श्रद्धा ज्ञानपूर्वक ही होती है, क्योंकि मनुष्य में साधारण ज्ञान प्रत्येक समय रहता है, किन्तु सुश्रद्धा एक विशिष्ट ज्ञानपूर्वक होती है। आचार्य समन्तभद्र ने जिनेन्द्र सर्वज्ञ की परीक्षा में इसी विशिष्ट ज्ञान का परिचय दिया था।[4]

वस्तुत: भक्ति में स्थायित्व एवं सुदृढ़ता सुश्रद्धा से ही आ पाती है। सुश्रद्धा के अभाव में भक्त की भक्ति में स्थायित्व की कमी रहती है। जहाँ केवल श्रद्धा शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ भी सुश्रद्धा से ही तात्पर्य है मात्र श्रद्धा या अन्ध श्रद्धा से नहीं। आचार्य समन्तभद्र ने उसी को स्पष्ट शब्दों में सुश्रद्धा कहा है।

1- "तद् द्विविधं, सराग-वीतरागविषयभेदात्।"-- स०सि०, 1/2

2- भ० आ०, गा०- 49

3- "सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते।" --स्तुतिविद्या, पद्य-114

4- "अतएव ते बुध-नुतस्य चरित गुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनस: स्थिता वयम् ।।
-- स्व०स्तो०, पद्य-130

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3- सेवा

"भज् सेवायाम्" से भज् धातु सेवा अर्थ में आती है। जैन साहित्य में भक्ति को सेवा कहा गया है। पाइअसद्दमहण्णव में भक्ति को सेवा कहा है।[1] अभिधानराजेन्द्र कोश में "सेवायां भक्तिर्विनयः सेवा" कहकर भक्ति को सेवा तो कहा ही है, अपितु सेवा का अर्थ विनय भी किया है।[2] विनय के चार भेद किये गये हैं-- ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चरित्रविनय एवं उपचारविनय।[3] जैन-तत्त्वज्ञान ग्रहण के प्रति विनम्रता प्रकट करना ज्ञान विनय है।[4] जैन तत्त्वों के प्रति शंकादि रहित होकर श्रद्धान करना दर्शन विनय है।[5] चारित्रवानों के प्रति चरित्र प्राप्त्यर्थ आदर प्रकट करना चारित्र विनय है।[6]

विनय के अन्तिम प्रकार "उपचार विनय" का सेवा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य, उपाध्याय आदि पूज्य जनों के प्रति अभ्युत्थान आदि के द्वारा आदरभाव प्रकट करना उपचार विनय है। सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है-- "पूज्य आचार्यादि को सामने देखकर खड़े हो जाना, उनके पीछे चलना, अञ्जलि जोड़ना और वन्दना आदि को करना उपचार विनय है। यदि आचार्य परोक्ष हैं तब भी उनके प्रति अञ्जलि धारण करना, उनके गुणों का संकीर्तन, अनुस्मरण

1- पा०स०म०, पृ० 796

2- अभि०रा०को०, भाग 5, पृ० 1365

3- "ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।" -- त०सू०, 9/23

4- "सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः।"--त०वा०, 9/23

5- "शङ्काादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः।"--स०सि०, 9/23

6- "तद्वतश्चरित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः।"
-- त०वा०, 9/23

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और मन, वचन, काय से उनकी आज्ञा का पालन करना उपचार विनय है।[1]

आचार्य वसुनन्दि ने उपचार विनय के मन, वचन, काय के भेद से तीन भेद किये हैं।[2] जिनमें कायिक उपचार विनय का सेवा से सीधा सम्बन्ध है। उन्होंने कहा है कि, "साधुओं की वन्दना करना, देखते ही उठकर खड़े हो जाना, अञ्जलि जोड़ना, आसन देना, पीछे-पीछे चलना, शरीर के अनुकूल मर्दन करना और संस्तर आदि करना कायिक विनय है।[3]

श्री जिनदासगणी ने भी आचार्यों के सम्मान में खड़े हो जाना, दण्डग्रहण करना, पैर पोंछना और आसन देना आदि सेवा को भक्ति कहा है।[4]

आचार्य शान्तिसूरि[5] एवं आचार्य श्रुतसागरसूरि ने[6] भी उपचार विनय का विस्तृत वर्णन किया है।

1- "प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु पूजनीयेष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुप-
चारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तना-
नुस्मरणादिः।" -- स०सि०, 9/23

2- "उवयारिओ वि विणओ मण- वचि-काएण होइ तिवियप्पो।"
-- व०श्रा०, गा०-325

3- "किरियम्मब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं ।
एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं ।।
कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं ।
संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं ।।
इच्चेवमाइ काइयविणओरिसि-सावयाण कायव्वो।।--व०श्रा०, गा०-328-29-30

4- "अब्भुट्ठाणदंडग्गहणपायपुंछणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा जा सा भक्ति।"
-- निशीथचूर्णि, गा०-130

5- चे०वं०म०, गा०- 735-736

6- तत्त्वार्थवृत्ति, 9/23

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4- अनुराग

"अनुराग" को भी भक्ति शब्द से कहा जाता है। जैसे- आचार्य पूज्यपाद ने, अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन में भावविशुद्धि-युक्त अनुराग को भक्ति कहा है।[1] श्री सोमदेवसूरि ने आचार्य में भावविशुद्धियुक्त अनुराग को भक्ति कहा है।[2] श्री शिवार्यकोटि ने भावविशुद्धियुक्त अनुराग को भक्ति कहा है।[3] अन्यत्र उन्होंने अर्हदादि के गुणानुराग को भक्ति कहा है।[4]

आचार्य अकलंकदेव[5], आचार्यजिनसेन[6], आचार्य विद्यानन्द[7], आचार्य जयसेन[8], आचार्य हेमचन्द्र[9], कवि राजमल्ल[10] एवं पण्डित आशाधर[11] ने भी

1- "अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तो अनुरागो भक्तिः।"
— स०सि०, 6/24

2-"जिनेजिनागमे सूरौ तपः श्रुतपरायणे।
सद्भावशुद्धिसम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते।।"-- उपासकाध्ययन,पद्य-215

3- "भक्तिः भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः।" --भ०आ०, गा०- 45

4- "अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।" देखिए, वही, गा०- 46

5- त०वा०, 6/24

6- हरिवंश पुराण, 34/141

7- त०वा०, 6/24, 12-13

8- प्र०सा०, जयसेनवृत्ति, 3/46

9- योगशास्त्र, 2/16

10-पञ्चाध्यायी, 2/470

11-सागरधर्मामृत, 5/47

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुराग को भक्ति कहा है।

भक्त अपने उपास्य के प्रति इतना तन्मय हो जाता है कि उसे तदतिरिक्त की सुधबुध नहीं रहती है। वह यदि अन्य कार्यों को करता भी है तो सदैव आराध्य के चिन्तन में लीन रहता है। इस सन्दर्भ मेंजैन कवि आनन्दघन ने तीन उपमायें दी हैं-- गाय, जुआड़ी और कामी।

1- <u>गाय की उपमा</u>

कवि आनन्दघन कहते हैं --"जिस प्रकार उदर भरण के लिए गायें बन में जाती हैं, घास चरती है, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ों में लगा रहता है, वैसे ही संसार के कामों को करते हुए भी भक्त का मन भगवान् के चरणों में लगा रहता है।[1]

2-3- <u>जुआड़ी एवं कामी की उपमा</u>

भक्ति की महत्ता प्रकट करते हुए आनन्दघन कवि पुन: कहते हैं -- "जिस प्रकार जुआड़ी का मन जुआ में और कामी का मन अन्य सब सुधबुध खोकर कामवासना में ही तृप्त होता है, अन्य बातों में उसे रस नहीं मिलता, वैसे ही प्रभु-नाम और स्मरणादि रूप भक्ति में भक्त की अविचल अनन्य निष्ठा होती है।"[2] उसका मन सिवाय भगवान् के अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता।

जैनेतर भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी प्रभु में "परा अनुरक्ति"[3] अथवा "उत्कृष्ट प्रेम"[4] को भक्ति का स्वरूप बतलाया है। श्री पूज्यपाद

1- आनन्दघनपदसंग्रह, पद-1

2- "जुआरी मन में जुवा रे कामी के मन काम ।
आनन्दघन प्रभु यों कहै तू ले भगवत को नाम॥"--
--आनन्दघनपदसंग्रह- पद-4

3- शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, 2

4- नारदभक्तिसूत्र, 2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपगोस्वामी ने "हरिभक्तरसामृतसिन्धु" में लिखा है कि इष्ट में उत्पन्न हुए स्वाभाविक अनुराग को ही भक्ति कहते हैं।[1]

भागवत में भक्ति का स्वरूप इसप्रकार से बतलाया गया है- "सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में जब लगती है, तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं।[2] श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति का कथन इसप्रकार से किया है--"भगवान् में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ और सतत् स्नेह ही भक्ति है।"[3]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि महात्मा तुलसीदास ने भी जैन कवि आनन्दघन की तरह कामी की उपमा के रूप में भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं-- "जैसे कामी को नारी प्यारी होती है वैसे ही जब भगवान् प्यारा हो जाये तो वह उत्तम भक्ति है।"[4] इसी की विस्तृत व्याख्या करते हुए डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है--"जब अनुराग स्त्री विशेष के लिए न रहकर, प्रेमरूप और तृप्ति की समष्टि किसी दिव्य तत्त्व या राम के लिए हो जाये तो वही भक्ति की सर्वोत्तम मनोदशा है।"[5]

1- "इष्टेस्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेत् भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता।।"
-- हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पद्य-62

2- "अहेतुक्य प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति।" --श्रीमद्भागवत, 1,2,6

3- भक्ति का विकास, पृ0 306

4- "कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।।
-- रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पद्य-130

5- कल्याण, भक्ति अंक, वर्ष 32, अंक 1, पृ0 144

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुराग के भेद

श्री शिवार्यकोटि ने अनुराग के चार भेद बताये हैं। यथा- भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग और धर्मानुराग। तत्त्व का स्वरूप मालूम नहीं भी हो तो भी जिनेश्वर का कहा हुआ तत्त्व स्वरूप कभी झूठा होता ही नहीं, ऐसी श्रद्धा करना भावानुराग कहलाता है। स्नेही व्यक्ति को बार-बार समझाकर उसे सन्मार्ग पर लगाना प्रेमानुराग है। मज्जानुराग पाण्डवों में था अर्थात् वे जन्म से लेकर आपस में अतिशय स्नेहयुक्त थे। धर्म में स्थिर रहकर उसको कदापि न त्यागना धर्मानुराग है।[1]

इसप्रकार चार तरह से जिनशासन में अनुरक्त रहना चाहिए।

5- सम्यग्दर्शन

श्रद्धा के सन्दर्भ में इस शब्द की चर्चा है। भक्ति को सम्यग्दर्शन कहा गया है।[2] जैन विद्वान् श्री सदासुखदास जी ने भक्ति तथा सम्यग्दर्शन में केवल नामभेद किया है, अर्थ-भेद नहीं।[3] सम्यग्दर्शन शब्द "सम्यक्" तथा "दर्शन" इन दो शब्दों के संयोग से बना है। आचार्य पूज्यपाद ने सम्यक् शब्द की उपयोगिता

1- "भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं।। --भ०आ०, गा०-736

2- (क) "अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।"--नि०सा०, गा०-5

(ख) सभी०धर्म०, 1/4, 37, 41

(ग) पं० कैलाशचन्द्र जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 238

(घ) एकीभावस्तोत्र, पद्य-13

3- रत्न०श्रा०, टीका, पृ० 214

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है--"पदार्थों के यथार्थ प्रतिपत्ति (ज्ञान) विषयक श्रद्धान का संग्रह करने हेतु ही दर्शन के पूर्व "सम्यक्" विशेषण दिया है।"[1] श्री सिद्धसेनगणि ने कहा है--"जो समस्त द्रव्य-भावों को व्याप्त करता है उसे सम्यक् कहा जाता है।"[2]

महापुराण [3] एवं धवला[4] में "दर्शन" शब्द के श्रद्धा, रुचि, स्पर्श, प्रत्यय (प्रतीति) आदि शब्द पर्यायवाची बताये गये हैं।

जैन आचार्यों[5] के अनुसार जहाँ तत्त्व या किसी भी पदार्थ का निश्चय, श्रद्धान, विवेक या रुचि आत्मलक्षी हो, वहीं सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह

1- "भावानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग् विशेषणम्।" -- स०सि०, 1/1

2- तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, 1/1

3- "श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेतिपर्यायाः।" -- महापुराण, 9/123

4- धवला, 6/1

5-(क) छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥"
-- दर्शनप्राभृत, अष्टपाहुड, गा०- 19

(ख) "नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।" --उ०सू०, 28/35

(ग) "दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम्।" -- प्र०सा०, वृत्ति, 240/233/15

(घ) "दर्शनमपि जीवास्तिकायसमुपजनितपरमश्रद्धानमेव भवति।"
-- नि०सा०, वृत्ति, गा०-3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ हुआ "यथार्थ श्रद्धान"। अब प्रश्न यह है कि यथार्थ श्रद्धान किसे कहा जाये? इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों ने दो प्रकार से विचार किया है-- (1) निश्चय-दृष्टि (निश्चयनय) और (2) व्यवहारदृष्टि (व्यवहारनय)।

जैनधर्म की यह विशेषता रही है कि वह प्रत्येक वस्तु का स्वरूप बताने के लिए अन्तरङ्ग (निश्चय) और बाह्य (व्यवहार) दोनों दृष्टियों को अपनाता है।[1] केवल अन्तरङ्गदृष्टि से ही वस्तु का लक्षण या स्वरूप किया जाता है तो वस्तु को साधारण व्यक्ति या अल्पज्ञ (छद्मस्थव्यक्ति) सहसा पकड़ नहीं पाता, उसे पता ही नहीं लगता कि कौन व्यक्ति उस लक्षण से युक्त है, कौन नहीं? मन के भावों का अन्तरङ्ग का पता प्रत्यक्षज्ञानी के सिवाय किसे लग सकता है? यदि बाह्य दृष्टि से वस्तु का लक्षण किया जाये तो वस्तु का वास्तविक रूप (मूलरूप) जाना नहीं जा सकता, क्योंकि वस्तु के मूलरूप के अभाव में उसका बाह्य रूप कार्यकारी नहीं होता है। इसलिए वस्तु का लक्षण निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से किया जाता है।

जब निश्चयनय की दृष्टि से विचार किया जाये तो शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान यथार्थश्रद्धान है[2] और व्यवहारनय की दृष्टि से यथार्थश्रद्धान पर विचार किया जाता है तो ज्ञात होता है, जैनों द्वारा स्वीकृत जीवादि तत्त्वों[3]

1- "शुद्धं यदात्मनो रूपं निश्चयेनानुभूयते ।
व्यवहारो भिदा द्वारा ऽनुभावयति तत्परम् ।।"
-- अध्यात्मसार, प्रबन्ध, 6, अधिकार-18, श्लोक-10

2- अष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गा0-20

3- "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।"
-- त0सू0, 1/4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में शंका आदि से रहित होकर विश्वास रखना यथार्थश्रद्धान है।[1]

भक्ति का लक्षण करते समय भी जैन आगमज्ञ मनीषियों ने दोनों नयों का आश्रय किया है। इसीलिए भक्ति का निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा से लक्षण किया गया है। वस्तुत: इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। जैनों ने यहां दोनों का समन्वय स्वीकार किया है।

निश्चयनय की दृष्टि से परमार्थ देवशास्त्र-गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को या जीवाजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को भक्ति कहते हैं।[2]

व्यवहारनय की अपेक्षा से सराग सम्यग्दृष्टि की शङ्कादिक

1- दर्शनपाहुड, अष्टपाहुड, गा०-20

2- (क) "सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ।।"
—नि०सा०, गा०-134

(ख) "निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु -
शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थ:।
एकादशपदेषु श्रावकेषु····सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति।।"
—नि०सा०,वृत्ति, गा०-134

(ग) "भक्ति: पुन:·········निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टिनां
शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति।"
—स०सा०,वृत्ति,गा०-119,173

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पच्चीस दोषों से रहित जो प्रवृत्ति है या सात तत्त्वों के विकल्प से सहित जो श्रद्धान है, उसी को भक्ति कहते हैं।[1]

निश्चयभक्ति और व्यवहारभक्ति में निश्चयभक्ति को श्रेष्ठ एवं वास्तविक कहा जा सकता है। जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं किया जाता, इसी प्रकार शरीर के गुण का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता है।[2] इसीप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से भक्ति साध्य (लक्ष्य) है और व्यवहारनय की दृष्टि से भक्ति उस निश्चयभक्ति को प्राप्त कराने के लिए साधन है। अतएव जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को प्राप्त करना चाहता है वह विवेकमूढ व्यक्ति बीज, खेत, पानी आदि के बिना ही अन्न उत्पन्न करना चाहता है। संसारियों के लिए निश्चयभक्ति तक पहुंचने के लिए व्यवहारभक्ति आवश्यक है। अत: दोनों का समन्वय और संतुलन अभीष्ट है।

निश्चय की सिद्धि के लिए व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। निश्चय की सिद्धि होने पर व्यवहार स्वयमेव छूट जाता है। जैसे- नदी के उस

1- (क) "मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।।"
-- नि0सा0, वृत्ति, गा0-135

(ख) "जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।।"-
-- दर्शनपाहुड,अष्टपाहुड, गा0-20

(ग) "भक्ति:पुन: सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पञ्चपरमेष्ठ्याराधनारूपा।" --स0सा0, वृत्ति, गा0 173-176

(घ) भ0आ0, विजयोदयाटीका, गा0 46

2- "णयरम्मिवण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।।"
--स0सा0, गा0-30

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार जाने के लिए नाव का सहारा आवश्यक है, यात्री नाव का आश्रय तब तक लेता है, जब तक किनारा नहीं आ जाता। इसीप्रकार व्यवहार भक्ति नाव है और निश्चयभक्ति किनारा। किनारा आने पर नाव सहज रूप में छूट जाती हैं। यही स्थिति व्यवहारभक्ति से निश्चयभक्ति में आने की है। वैसे तो जैन परम्परा के अनुसार अन्त में निश्चयभक्ति भी छूट जाती है किन्तु दोनों के आश्रय से ही भक्त की भक्ति पूर्णता को प्राप्त करती है। अतएव निश्चयभक्ति एवं व्यवहारभक्ति दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कहा जा सकता है। परस्पर एक दूसरे के पूरक भी कहे जा सकते हैं।

सम्यग्दर्शन (भक्ति) का स्वरूप अनुयोगों की अपेक्षा से

"सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोग:" अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है उसका नाम अनुयोग है।[1] अनुयोग को अधिकार, परिच्छेद, प्रकरण इत्यादि नामों से भी अभिहित किया जाता है।[2]

सम्पूर्ण जैनागम चार भागों में विभक्त है जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं। यथा- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में कथायें व पुराण[3], करणानुयोग में कर्मसिद्धान्त तथा लोकविभाग[4], चरणानुयोग

1- आवश्यकसूत्रवृत्ति, गा0 127 तथा देखिए, विशेषावश्यकभाष्य, गा0 1383

2- "अनुयोगोऽधिकार: परिच्छेद: प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थ:।"
--द्रव्यसंग्रह, टीका, 42/183/2

3- "प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध: समीचीन: ।।"--रत्न0श्रा0, पद्य-43

4- "लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामति-रवैति करणानुयोगं च ।।"
-- देखिए, वही, पद्य-44

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में जीव का आचार-विचार[1] और द्रव्यानुयोग में चेतनाचेतन द्रव्यों का स्वरूप व तत्त्वों का विवेचन होता है।[2]

प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में महापुराण, पद्मपुराण, आराधनाकथा, भक्तामरकथा, महावीरचरित आदि, करणानुयोग के ग्रन्थों में त्रिलोकसार, गोम्मट्टसार, आत्मानुशासन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि, चरणानुयोग की रचनाओं में मूलाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत आदि तथा द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों में द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय आदि प्रमुख रचनायें सम्मिलित हैं।

प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग की रचनाओं में आराध्य सत्यार्थ देव, शास्त्र एवं गुरु तथा तत्त्वादि का वर्णन किया गया है। इसलिए प्रथमानुयोग और चरणानुयोग की अपेक्षा से परमार्थ देव, शास्त्र (आगम), गुरु का तथा तत्त्वों का शंकादि पच्चीस दोषों से रहित अतिनिर्मल श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[3]

1- "गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।।" --देखिए, वही, पद्य-45

2- "जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौच ।
द्रव्यानुयोगदीप: श्रुतविद्यालोकमातनुते ।।" --देखिए, वही, पद्य-46

3-(क) "श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।"
--देखिए, वही, पद्य-4

(ख) अत्तागमतच्चाणं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ।।
-- व०श्रा०, गा०-6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यानुयोग की रचनाओं में मुख्यतया द्रव्य, गुण, पर्याय या जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों एवं पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है अतः द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन का स्वरूप तत्त्वार्थ श्रद्धान या नौ पदार्थों का परमार्थरूप से श्रद्धान करना कहा जा सकता है।[1] स्वपर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है[2], क्योंकि आस्रवादिक तत्त्व स्व-जीव और पर-कर्मरूप अजीव के संयोग से होने वाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं अतएव स्वपर में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

द्रव्यानुयोग का प्रमुख ग्रन्थ अष्टपाहुड में परद्रव्यों से भिन्न आत्मद्रव्य की प्रतीति को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है[3], क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय होने से पर स्वतः ही छूट जाता है।

करणानुयोग साहित्य में मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धागुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है।[4]

1- (क) त०सू०, 1/2

(ख) "भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्ण पावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।"--स०सा०, गा०-13

2- त०वा०, 1/2

3- (क) "अप्पाणं हवइ सम्मत्तं" --दर्शनपाहुड, अष्टपाहुड, गा०-20

(ख) "दर्शनमात्मविनिश्चितिः।"--पु०सि०, पद्य-2।

4- दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु ।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ।।
दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ।।

--गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा० 648,650

तथा देखिए, गा०- 647, 649, 651

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त लक्षणों में अन्तिम लक्षण साध्य है और शेष उसके साधन है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये लक्षण एक दूसरे के बाधक न होकर साधक हैं क्योंकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पात्र की योग्यता को ध्यान में रखते हुए जैन मनीषियों ने विभिन्न शैलियों से सम्यग्दर्शन का वर्णन मात्र किया है। जैसे- आचरणप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा से देव-शास्त्र एवं गुरु की प्रतीति को, ज्ञानप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा से तत्त्वार्थश्रद्धान को और कषाय से उत्पन्न विकल्पों की मन्द-मन्दतर अवस्था को मुख्यतया देने की अपेक्षा से स्वपरश्रद्धान या आत्मश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार उपर्युक्त चारों प्रकार की शैलियों को अपनाया जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन (भक्ति) के अङ्ग या गुण

मनुष्य के शरीर में जैसे आँख, नाक, कान, हाथ और पैर आदि में से एक भी अङ्ग न हो तो उसका शरीर विकृत एवं दूषित कहलाता है। वैसे ही सम्यग्दर्शन के साथ निःशङ्कित, निःकांक्षित आदि आठ अङ्गों में से किसी एक अङ्ग का अभाव हो जाये तो वह सम्यग्दर्शन भी विकृत एवं दूषित कहलाता है। दूषित सम्यग्दर्शन से मोक्षपथ की प्राप्ति असम्भव है। जैसा कि कहा गया है--

"नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मंत्रो क्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ।।"[1]

जिस मन्त्र में एक, दो अक्षर कम हों, वह मंत्र जैसे विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता, वैसे ही किसी भी अङ्ग से हीन सम्यग्दर्शन भी संसार की जन्म-मरणरूप परम्परा को नष्ट नहीं कर सकता।

अङ्ग, गुण और लक्षण (चिह्न) इन शब्दों को एकार्थक माना गया है।[2] जैसे- राजा में राजा के गुण न हों तो राजसी पोशाक होने पर भी कोई उसे राजा मानने को तैयार नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन से सम्बद्ध गुण न हों तो केवल सम्यक्त्व ग्रहण कर लेने से या ऊपर से देव, धर्म, गुरु, शास्त्र या तत्त्वों पर श्रद्धान मात्र से अचानक कोई भी उसे सम्यग्दृष्टि मानने या कहने अथवा समझने को तैयार नहीं होगा। इसीप्रकार राजा में राजत्व के लक्षण न हों तो कोई उसे राजा नहीं मानता, वैसे ही सम्यक्त्वी में भी सम्यक्त्व के लक्षण न हों तो उसका सम्यक्त्व व्यवहार में

1- रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य- 21 तथा देखिए, चारित्रसार, 6/1

2- लाटीसंहिता, प्रस्तावना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थ नहीं माना जाता। इसलिए सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्दर्शन के अङ्गों का होना आवश्यक है।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग या गुण निम्नप्रकार से हैं-- निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।[1] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार एक दो नामों में थोड़ा सा अन्तर कर उपर्युक्त आठ अङ्ग निम्न प्रकार से बतलाये गये हैं-- निःशंकता, निष्कांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना।[2]

सम्यग्दर्शन के उपर्युक्त आठ अङ्गों का स्वरूप या लक्षण इस प्रकार से किया गया है--

1- निःशंकित अङ्ग

परमार्थ देव, शास्त्र एवं गुरु में शंकारहित होकर अटल श्रद्धान होना निःशंकित अङ्ग है। जैसा कि कहा गया है--

---

1- (क) "णिस्संकिद-णिक्कंखिद-णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ।।"
--मूलाचार, पद्य- 201.

(ख) त०वा०, 6/24

(ग) व०श्रा०, गा०-48

(घ) पञ्चाध्यायी, उत्तरार्ध, पद्य- 479-480

2- (क) "निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिंछा अमूढदिट्ठीय।
उववूह- थिरीकरणे वच्छल्ल- पभावणे अट्ठ ।।
-- उ०सू०, 28/31

(ख) प्रज्ञापनासूत्र, पद-1

(ग) प्रकरणरत्नाकर, द्रव्यविचार, भाग-2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"इदमेवेदृशमेवतत्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकंपायसांभोवत् सन्मार्गे संशयाऽरुचि: ।।"[1]

परमार्थस्वरूप देव, शास्त्र, गुरु का लक्षण यह ही है, इसी प्रकार ही है अन्य प्रकार नहीं है तथा अन्यथा किसी भी प्रकार नहीं है। इसप्रकार देव, शास्त्र और गुरु के प्रवाह में तलवार की धार पर रखे हुए पानी के समान अटल श्रद्धान होना निःशंकित अङ्ग कहलाता है। जिस सत्य मार्ग का भक्त ने अवलम्बन किया है, उसके सम्बन्ध में उसे निःशङ्क होना चाहिए। उसे अपने पर अपने गन्तव्य पथ पर और अपने मार्गद्रष्टा पर अविचल विश्वास होना चाहिये।

2- निष्कांक्षित अङ्ग

भक्त को किसी भी प्रकार के लौकिक सुखों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। बिल्कुल निष्कांक्षित होकर कार्य करना चाहिए। क्योंकि कामना मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देती है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है--

"कर्मपरवशे सांते, दुःखैरंतरितोदये ।
पापबीजेसुखेऽनास्था, श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता।।"[2]

कर्मों के आधीन नश्वर दुःखों से मिश्रित और पाप के कारण इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों में अनित्यरूप श्रद्धान करना निष्कांक्षित अङ्ग कहा जाता है।

1- (क) रत्न०श्रा०, पद्य-11
(ख) म०आ०, गा०-229
(ग) पु०सि०, गा०-23
2- (क) देखिए, वही पद्य-12
(ख) देखिए, वही, गा०- 230
(ग) देखिए, वही, गा०-24

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3- निर्विचिकित्सा अङ्ग

रोगी, दरिद्र और दु:खी मनुष्य को देखकर उससे ग्लानि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये सब जीवों के अपने-अपने किए हुए पाप-पुण्य का परिणाम है। अत: मनुष्य के वैभव आदि पर ध्यान न देकर उसके गुणों पर ध्यान देना निर्विचिकित्सा अङ्ग कहलाता है। यथा--

"स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता।।"[1]

अर्थात् स्वरूप से अपवित्र, किन्तु सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से पवित्र शरीर में ग्लानिरहित मुक्तिसाधक गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

4- अमूढदृष्टि अङ्ग

कुमार्ग को त्यागकर सन्मार्ग पर चलना अथवा सन्मार्ग से च्युत न होना सम्यग्दर्शन का चौथा अङ्ग अमूढदृष्टि कहलाता है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र का भी कथन है--

"कापथे पथि दु:खानां, कापथस्थेऽप्यसम्मति:।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ।।"[2]

1- (क) रत्न० श्रा०, पद्य-13
(ख) स०सा०, गा०- 231
(ग) पु०सि०, गा०-25

2-(क) देखिए, वही, पद्य-14
(ख) देखिए, वही, पद्य-232
(ग) देखिए, वही, गा०- 26

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःखों के कारण मिथ्यात्वादि के विषयमें और मिथ्यात्वादि के धारक व्यक्ति के विषय में मन से सहमत न होना, शरीर से प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि अङ्ग होता है।

5- उपगूहन अङ्ग

उपगूहन अङ्ग को उपबृंहण अङ्ग भी कहा गया है। हिताहित के विवेकरहित और व्रतादिक करने में असमर्थ प्राणी के द्वारा रत्नत्रय या उसके उपासक के प्रति उत्पन्न हुये दोष, त्रुटि या निन्दा का छिपाना, प्रकट नहीं करना उपगूहन अङ्ग है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी कहा गया है--

"स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ।।"[1]

अर्थात् जिस कारण से जो स्वरूप से पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी और असमर्थ पुरुषों के द्वारा उत्पन्न हुई निन्दा को छिपाते हैं, वे उसको उपगूहन अङ्ग कहते हैं।

6- स्थितिकरण अङ्ग

इस अङ्ग को स्थिरीकरण अङ्ग भी कहा जाता है। स्वयं या अन्य दूसरा मनुष्य सन्मार्ग से च्युत हो रहा हो या किसी कारण से उसका त्याग कर देना चाहता है, तो अपना और उसका स्थितिकरण करना स्थिरीकरण अङ्ग है। यथा--

---

1- (क) रत्न०श्रा०, पद्य-15
(ख) भ०आ०, गा०- 233
(ग) पु०सि०, गा०- 27

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते।।"[1]

सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्चारित्र से डिगते हुए जीवों का धर्म से प्रेम रखने वाले जीवों के द्वारा फिर से उसी में लगा देना, स्थितिकरण के जानकार विद्वानों के द्वारा स्थितिकरण अङ्ग कहा गया है।

7- वात्सल्य अङ्ग

वात्सल्य गुण का स्वरूप निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है--

"स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते।।"[2]

अपने सहधर्मियों के प्रति सरलता सहित, मायारहित यथायोग्य आदर सत्कार आदि करना वात्सल्य अङ्ग कहा जाता है।

8- प्रभावना अङ्ग

अन्य मतसम्बन्धी पूजा और तप आदि के विषय में अज्ञानरूपी अन्धकार (मिथ्यात्व) के विस्तार को समुचित उपायों के द्वारा दूर कर, समस्त मतावलम्बियों में यथायोग्य पूजा और तप आदि के विषय में जैनधर्म का यथाशक्ति प्रभाव (अतिशय) प्रकट करना प्रभावना अङ्ग है। आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है--

---

1- (क) रत्न०श्रा०, पद्य-16
(ख) मू०आ०, गा०- 234
(ग) पु०सि०, गा०- 28

2- (क) देखिए, वही, पद्य-17
(ख) देखिए, वही, गा०-235
(ग) देखिए, वही, गा० 29

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।।"[1]

समुचित रीति से अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को हटाकर, जैनधर्म की महिमा का फैलाना प्रभावना अङ्ग है।

अङ्ग विशेष के पालनकर्त्ताओं में प्रसिद्ध महापुरूष

निशंकित, निष्कांक्षित आदि उपर्युक्त आठों अङ्गों में प्रसिद्ध होने वाले महान् पुरुषों के उदाहरण भी मिलते हैं। पहले निःशंकित अङ्ग में अंजन चोर एवं जिनदत्तसेठ, दूसरे निष्कांक्षित अङ्ग में अनन्तमती रानी, तीसरे निर्विचिकित्सा अङ्ग में राजा उद्दायन, चौथे अमूढ़दृष्टि अङ्ग में रेवतीरानी एवं राजा चन्द्र, पाँचवें उपगूहन अङ्ग में जिनेन्द्र भक्त सेठ तथा आचार्य विश्रुद्र, छठवें स्थितिकरण अङ्ग में राजा श्रेणिक का पुत्र वारिषेण और राजा हस्थिमल्ल, सातवें वात्सल्य अङ्ग में विष्णुकुमार मुनि और आठवें प्रभावना अङ्ग में मुनिवज्रकुमार एवं अचल मुनि विशेष रूप से प्रसिद्ध हुये हैं।[2] सामान्यरूप से तो एक-एक अङ्ग का पालन करने वाले अनेक महान् पुरूष हुये हैं किन्तु प्रत्येक अङ्ग के पालक की प्रमुख कथा को मैं आगे चलकर स्पष्ट कर रहा हूँ—

1- (क) रत्न०श्रा०, पद्य-18

(ख) म०आ०, गा०- 236

(ग) पु०सि०, गा०-30

2- (क) म०आ०, गा०- 237-238

(ख) रत्न०श्रा०, पद्य-19-20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आठ अङ्गों की कथायें

1- निःशंकित अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध जिनदत्त सेठ की कथा

राजगृह में एक जिनदत्त नाम का सेठ रहता था जो आत्मा, देव, गुरु, धर्म एवं जीवादि तत्त्वों पर पूर्णरूप से श्रद्धाशील था। इनके प्रति शंका या भय नहीं था। एक बार वह पोषधोपवासव्रत धारण करके श्मशान भूमि में ध्यानस्थ था, तब दो असुर देव उसके पास उसकी परीक्षा लेने के लिए आये कि इस जैनधर्म पालक गृहस्थ की आत्मा कितनी निर्भय एवं निःशङ्क है? यह अपने धर्म के प्रति कितना विश्वस्त है? उन देवों ने जिनदत्त सेठ की ध्यानावस्था में घोर उपसर्ग किया, अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाए लेकिन अविचल श्रद्धाशील जिनदत्त सेठ जरा भी विचलित न हुआ।

घोर उपसर्गों को समभाव से सहा, धर्म से चलायमान न हुआ। भय के कारण उपस्थित होने पर भी आत्मभावों से विचलित न होना, दृढ़ता से धर्म में स्थिर रहना इसे ही निःशंकित कहते हैं।

जिनदत्त सेठ के धर्म में निःशंकित भाव से प्रसन्न होकर देवों ने उन्हें आकाशगामिनी विद्या प्रदान की।[1]

1- (क) कथारत्नकोश, भाग 1, कथा 1

(ख) लाटीसंहिता, कथा- 1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निःशंकित अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध अन्जन चोर की कथा

निःशंकित अङ्ग की दूसरी कथा भी मिलती है, जो इसप्रकार से है--

धन्वन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्म के प्रभाव से अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नाम के देव हुए। दोनों एक दूसरे के धर्म की परीक्षा करने के लिए पृथिवी-लोक पर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषि को तप से विचलित किया। मगध देश के राजगृह नगर में जिनदत्त नाम का सेठ उपवास का नियम लेकर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में कायोत्सर्ग से स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देव ने विद्युत्प्रभ से कहा कि हमारे मुनि दूर रहें, इस गृहस्थ को ही तुम ध्यान से विचलित करो। तदनन्तर विद्युत्प्रभ देव ने उस पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, फिर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ।

तदनन्तर प्रातःकाल अपनी माया को समेटकर विद्युत्प्रभ ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है। किन्तु दूसरे के लिए पञ्चनमस्कार मन्त्र की अर्चना और आराधना की विधि से सिद्ध होगी। जिनदत्त के यहाँ सोमदत्त नाम का एक ब्रह्मचारी वटु रहता था। जो जिनदत्त के लिए फूल लाकर देता था। एक दिन उसने जिनदत्त सेठ से पूछा कि आप प्रातःकाल ही उठकर कहाँ जाते हैं? सेठ ने कहा कि मैं अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दनाभक्ति करने के लिये जाता हूँ। "मुझे इसप्रकार से आकाशगामिनी विद्या का लाभ हुआ है।" सेठ के ऐसा कहने पर सोमदत्त वटु ने कहा कि मुझे भी यह विद्या बतला दे, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति कर सकूँ। तदनन्तर सेठ ने उसके लिए विद्या सिद्ध करने की विधि बतलाई।

सोमदत्त वटु ने कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में वटवृक्ष की पूर्वदिशा वाली शाखा पर एक सौ आठ रस्सियों का एक मूंज का सींका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बांधा, उसके नीचे सभी प्रकार के पैने शास्त्र ऊपर की ओर मुखकर रखें। पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि देकर सींके के बीच प्रविष्ट हो उसने दो दिन के उपवास का नियम लिया। फिर पञ्चनमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर छुरी से सींके की एक-एक रस्सी को काटने के लिए तैयार हुआ। परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रों के समूह को देखकर वह डर गया। तथा विचार करने लगा कि यदि सेठ के वचन असत्य हुए तो मरण हो जावेगा। इस प्रकार शङ्कित चित्त होकर वह सींके पर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा। उसी समय राजगृही नगरी में एक अन्जन सुन्दरी नाम की वेश्या रहती थी। एक दिन उसने कनकप्रभ राजा की कनकारानी का हार देखा। रात्रि को जब अन्जन चोर उस वेश्या के यहां गया तब उसने कहा कि यदि तुम मुझे कनकारानी का हार दे सकते हो तो मेरे स्वामी बन सकते हो अन्यथा नहीं।

तदनन्तर अन्जन चोर रात्रि में हार चुराकर आ रहा था कि हार के प्रकाश से वह पहचान लिया गया। अंगरक्षकों और कोटपाल ने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया। वटवृक्ष के नीचे सोमदत्त वटुक को देखकर उसने उससे सब समाचार पूछा तथा उससे मन्त्र लेकर वह सींके पर चढ़ गया। उसने निःशङ्कित होकर उस विधि से एक ही बार में सींके की सब रस्सियां काट दीं। ज्यों ही वह शस्त्रों के ऊपर गिरने लगा त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई। सिद्ध हुई विद्या ने उससे कहा कि मुझे आज्ञा दो। अन्जन चोर ने कहा कि मुझे जिनदत्त सेठ के यहां ले चलो। उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरु के चैत्यालय में स्थित था। विद्या ने अन्जनचोर को लेकर सेठ के आगे खड़ा कर दिया। अपना पिछला वृत्तान्त कहकर अन्जन चोर ने सेठ से कहा कि आपके उपदेश से मुझे जिस प्रकार यह विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार परलोक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की सिद्धि के लिए भी आप मुझे उपदेश दीजिये। तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास दीक्षा लेकर उसने कैलास पर्वत पर तप किया और केवलज्ञान प्राप्त कर वहाँ से मोक्ष प्राप्त किया।[1]

2- निष्कांक्षता या निष्कांक्षित अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध - अनन्तमती की कथा

चम्पानगरी के श्रेष्ठी प्रियदत्त की पुत्री अनन्तमती ने अष्टान्हिका पर्व के प्रथम दिन अपने माता-पिता के द्वारा आठ दिनों के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने के बाद उनकी प्रेरणा से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे अनन्तमती ने यौवन अवस्था में पदार्पण किया। माता-पिता उसके विवाह की तैयारी करने लगे तो उसने अपनी आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर, उनका भ्रम दूर किया।

मदनोत्सव के दिन रूपवती अनन्तमती झूला झूलने के लिए अपनी सखियों के साथ उद्यान में गई। तभी आकाशमार्ग से जाता हुआ कुण्डलमण्डित विद्याधर उसके रूप, यौवन को देखकर मोहित हो गया और उसे अपहरण करके ले गया। किन्तु आधे मार्ग में पत्नी के डर से अनन्तमती को शंखपुर के निकटवर्ती भीम वन में छोड़ दिया। वहाँ शिकार खेलने को आये हुए भिल्लराज भीम ने उसे देखा और वह कामान्ध उससे बलात्कार करना चाहता था कि वनदेवी ने अनन्तमती की रक्षा की।

भिल्लराज क्षमा माँग कर चला गया। शंखपुर के निकटवर्ती पर्वत के पास व्यापारियों का दल ठहरा हुआ था। व्यापारी दल के नायक ने अनन्तमती को अपने चंगुल में फंसाने का प्रयत्न किया। जब वह किसी भी प्रकार

1- रत्न०श्रा०, अध्याय-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से वश में न हो सकी तो उसने उसे अयोध्या की व्यालिका नामक वेश्या को सौंप दिया। व्यालिका वेश्या ने उसे तरह-तरह से लुभाने की कोशिश की। पर सफलता न मिली, तो उसने अयोध्या के राजा सिंह को अनन्तमती भेंट स्वरूप दे दी।

राजा सिंह ने सभी तरह से उपाय किये किन्तु असफल रहा। असफल होने पर अनन्तमती से बलात्कार करना चाहा तभी नगर देवता ने आकर उसकी रक्षा की। उसके चंगुल से निकलकर अनन्तमती अपनी बुआ (फूफी) सुदेवी जिनदत्त के यहाँ रहने लगी। अन्ततोगत्वा उसने वहीं विराजित कमलश्री आर्यिका से भागवती दीक्षा ले ली। वह आर्यिका बन गई और बिना किसी फलाकांक्षा के कठोर तपश्चर्या की।

अनन्तमती ने पिता की साधारण प्रेरणा से आजीवन ब्रह्मचर्य धारण किया और अपने सामने वैभव एवं भोगों के बड़े-बड़े प्रलोभन आने पर भी ठुकरा दिये। उसने निष्कांक्ष भाव से ब्रह्मचर्य और तप की आराधना की।[1]

3- निर्विचिकित्सा अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध- राजाउद्दायन की कथा

राजा उद्दायन मायापुरी नगरी का अधिपति था। वह दृढ सम्यक्त्वी था। देव, गुरु और धर्म पर उसकी श्रद्धा अटल थी। एक बार इन्द्र सभा में राजा उद्दायन द्वारा पालन किये जाते हुए निर्विचिकित्सा अङ्ग की अतीव प्रशंसा वासव नामक देव को सहन न हुई। वह परीक्षा लेने हेतु कोढी

1- उपासकाध्ययन, कल्प, 8

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुनि का वेष धारण कर उस नगरी में पहुंचा। सारे अङ्ग कोद से गल रहे थे, आंख, नाक, कान आदि के छिद्रों से दुर्गन्धयुक्त मल बह रहा था। सारा शरीर मवाद से सना था। शरीर के ऊपरी भाग में अनेक फोड़े हो गए थे, जिन पर मक्खियां भिनभिना रही थीं।

वह कृत्रिम साधु वेषी देवराज भवन के आगे से जा रहा था कि अचानक राजा उद्दायन की दृष्टि उस पर पड़ी। राजा की नजर साधु वेषी देव के उस घिनौने शरीर पर न होकर रत्नत्रय के पवित्र गुणों से युक्त उसकी आत्मा पर थी। राजा स्वं उठा, उक्त साधु के पास पहुंचा, विधिपूर्वक वन्दन किया और बड़ी भक्तिभाव से उन्हें सहारा देकर अपने भवन में लाया। अपने हाथ से सभी उपचार किये। मुनिसेवा अम्लान भाव से की। मुनिवेषी देव राजा को सम्यक्त्व के निर्विचिकित्सा अंग में अविचल जानकर असली रूप में प्रकट हुआ। राजा से क्षमा मांगी और पाठमात्र से सिद्ध होने वाली अनेक विद्यायें तथा वस्त्रादि देकर देवलोक को लौट गया।[1]

4- अमूढदृष्टि अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध- शंख मुनि कथा

ऐरवत क्षेत्र के अन्तर्गत जयपुर नगर के राजा चन्द्र ने निमित्तज्ञ से अपनी भावी मृत्यु को जानकर उसे टालने के लिए शंख पुरोहित के पुत्र प्रभाकर को अपना राज्य दे दिया। कुछ ही दिनों में विद्युत्पात होने से सिंहासन पर ही बैठा प्रभाकर जल गया। इससे उसके पिता शंख ने शोकग्रस्त होकर स्वयं पर्वत से गिरकर मरने का निश्चय कर लिया, किन्तु अकस्मात कुम्भपुर में आचार्य सुधर्म के दर्शन करके उनके वचनामृत सुने तो संसार से विरक्त होकर उसने श्रमण

1- उपासकाध्ययन, कल्प 9

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीक्षा ले ली। शंख मुनि अकेले विचरण करते हुए एक बार कलिङ्ग देश में कालसेन तापस के आश्रम में पहुंचे। उस तापस ने त्रिलोक पिशाची, कर्णपिशाची आदि अनेक विद्याएं सिद्ध कर ली थीं, जिनकी सहायता से वह लोगों को भूत भविष्य बताता था।

तापस के इस चमत्कार से शंख मुनि अपने सम्यग्दर्शन से च्युत हो गये, उन्हें भी इसप्रकार की चामत्कारिक विद्याओं को सिद्ध करने की इच्छा हुई। इसप्रकार की विमूढ़ता के फलस्वरूप वे मरकर किल्विषी देव हुए।

जिस श्रमणवृत्ति से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता था, शंख मुनि ने उसके सुफल को मूढ़ताओं के चक्कर में पड़कर कुफल में बदल दिया।[1]

5- उपगूहन या उपबृंहण अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध

(क) आचार्य रुद्र की कथा

कुशाग्रबुद्धि के धनी विप्र रुद्र आचार्य गुणसेन के तत्त्वज्ञान के उपदेश को सुनकर प्रतिबुद्ध हुआ, मुनि दीक्षा ले ली। रुद्र मुनि विद्वान् एवं शास्त्रज्ञ हुआ। अपनी प्रतिभा के बल पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुआ। आचार्य रुद्र मुनि मण्डल सहित राजगृह पधारें। उनके संघ में चार मुनि चार लब्धियों के धारक थे-- बन्धुदत्त मुनि वादकला में, प्रभाकर मुनि तपस्या में, सोमिल मुनि निमित्तशास्त्र में और सामज्जमुनि योगविद्या में पूर्ण कुशल थे। इनके प्रति जनता में विशेष आदरहोने के कारण आचार्य रुद्र इनके प्रति मन ही मन ईर्ष्या से जलते थे।

1- कथारत्नकोष, भाग 1, कथा 5

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक बार पाटलिपुत्र में अव्यक्तलिंगी विदुर के साथ शास्त्रार्थ करने हेतु रुद्रसूरि ने बन्धुदत्त मुनि को भेजा। वाद-विवाद में बन्धुदत्त मुनि की विजय हुई। पूर्व शर्त के अनुसार विदुर ने श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया। मुनि बन्धुदत्त राजगृह गुरु चरणों में पहुंचे तो रुद्रसूरि ने न तो यथोचित सम्मान दिया, न ही उनके गुणों की प्रशंसा की। फलत: मुनि बन्धुदत्त अपने प्रयत्नों में उदासीन रहने लगे। मुनि प्रभाकर के साथ भी ऐसा ही हुआ । आचार्य रुद्र के इस उदासीन व्यवहार से संघ में शिथिलता आ गई। आयुष्य पूर्ण करके गुणों के प्रति अनादर भाव के कारण मरकर वे किल्विषी देव बने। फिर वहां से दीन हीन ब्राह्मण के मूक पुत्र हुए।[1]

(ख) जिनेन्द्रभक्त सेठ की कथा

सुराष्ट्र देश के पाटलिपुत्र नगर में राजा यशोधर रहता था। उसकी रानी का नाम सुसीमा था। उन दोनों के यहां सुवीर नाम का पुत्र था। सुवीर सप्तव्यसनों से अभिभूत था तथा ऐसे ही चोर पुरुष उसकी चाटुकारी करते थे। उसने एक बार सुना कि पूर्व गौड़ देश की ताम्रलिप्त नगरी में जिनेन्द्रभक्त सेठ के सतखण्डा महल के ऊपर अनेक रक्षकों से सहित श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा के ऊपर जो छत्रत्रय लगा है उस पर एक विशेष प्रकार का अमूल्य वैडूर्यमणि संलग्न है। लोभवश उस सुवीर ने अपने साथियों से पूछा कि क्या कोई उस मणि को लाने के लिए समर्थ है? सूर्य नामक चोर ने गला फाड़कर कहा कि यह तो क्या है, मैं इन्द्र के मुकुट का मणि भी ला सकता हूं। इतना कहकर वह कपट से क्षुल्लक बन गया और अत्यधिक काय क्लेश से ग्राम तथा नगरों में घूमता हुआ क्रम से ताम्रलिप्त नगरी पहुंच गया।

1- कथारत्नकोष, भाग 1, कथा 6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनेन्द्रभक्त सेठ ने जाकर दर्शन करने के पश्चात उस क्षुल्लक को अपने घर ले आये। उसने पार्श्वनाथ देव के उसे दर्शन कराये और माया से न चाहते हुए भी उसे मणि का रक्षक बनाकर वहीं रख लिया।

एक दिन क्षुल्लक से पूछकर सेठ समुद्र यात्रा के लिये चला और नगर से बाहर निकलकर ठहर गया। वह चोर क्षुल्लक घर के लोगों को सामान ले जाने में व्यस्त जानकर अर्धरात्रि के समय उस मणि को लेकर चलता बना। मणि के तेज से मार्ग में कोतवालों ने उसे देख लिया और पकड़ने के लिये उसका पीछा किया। कोतवालों से बचकर भागने में असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठ की ही शरण में जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। कोतवालों का शोर सुनकर तथा पूर्वापर विचार कर सेठ ने जान लिया कि यह चोर है, परन्तु धर्म का उपहास बचाने के लिये उसने कहा कि यह मेरे कहने से ही रत्न लाया है, आप लोगों ने अच्छा नहीं किया जो इस महातपस्वी को चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठ के वचन को प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठ ने उसे रात्रि के समय निकाल दिया।[1]

इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टियों को भी असमर्थ और अज्ञानी जनों से आये हुए धर्म के दोष का आच्छादन करना चाहिये।

6- स्थितिकरण या स्थिरीकरण अड्.ग के पालन करने में प्रसिद्ध-

राजा हस्तिमल्ल कथा

हस्तिमल्ल रामपुर नगर का राजा था। एक बार अपना पुरुषार्थ प्रकट करने हेतु वह अपने मित्र गंगाधर के साथ उत्तरापथ की ओर चल पड़ा। वह चलते-चलते कुरूदेश के राजा अर्जुन के यहाँ सेनापति बना। एक बार सीमावर्ती

1- रत्न0श्रा0, अध्याय-1

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा भवदेव के साथ भयंकर युद्ध हुआ। जिसमें विजय हस्तिमल्ल को मिली। भवदेव पराजय की ग्लानिवश श्रमण बन गया। पराजय का दंश उसे कचोटता रहा। हस्तिमल्ल भी उन्हीं आचार्य के पास दीक्षित हुए और गीतार्थ भवदेव मुनि के साथ विचरण करने लगे। हस्तिमल्ल मोहग्रस्त होकर चारित्र पालन में शिथिल हो गये। भवदेव मुनि को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने मुनि हस्तिमल्ल को अनेक युक्तियों से समझाया किन्तु बात उनके गले न उतरी। वह ऊपर से ही श्रमण धर्म का पालन करता था, अन्दर से नहीं। भवदेव मुनि को यह बात मालूम थी लेकिन उन्होंने मुनि हस्तिमल्ल को स्थिर करने हेतु विशेष प्रयास न किया।

इसप्रकार भवदेव मुनि ने सम्यक्त्व के स्थिरीकरण अड्•ग का पालन न किया उसे दूषित कर लिया। उसके फलस्वरूप भवदेव मुनि को अनेक जन्मों में भटकना पड़ा।[1]

7- वात्सल्य अड्•ग के पालन करने में प्रसिद्ध- मुनि विष्णुकुमार की कथा

वात्सल्य अड्•ग की कथा का उदाहरण विष्णुकुमार मुनि की धर्म प्रभावना है। विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुर में नमुचि के द्वारा सुव्रताचार्य आदि मुनि मण्डल पर घोर अत्याचार होता देख, वैक्रियलब्धि से हस्तिनापुर आये। वहां के राजा पद्म को सावधान किया। जब उसने असमर्थता प्रकट की तब विष्णु मुनि वामनरूप धारण करके नमुचि के पास गये और उससे तीन कदम जमीन मांगी। वह तीन पग जमीन न दे सका, तब नमुचि को पराभूत करके मुनियों पर आया हुआ उपसर्ग दूर किया।

यह थी समधर्मी संघवात्सलता।[2]

1- कथारत्नकोष, भा01, कथा-7

2- रत्न0श्रा0, अध्याय-1, पद्य-19,20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8- प्रभावना अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्ध- मुनि अचल कथा

निश्चयपुर में एक चोर को पकड़ने में सभी राजा सभासद असफल हो चुके थे, तब वहाँ के राजा रामचन्द्र की दृष्टि सहस्रयोधी सुभट अचल पर जा टिकी। अचल ने चोर पकड़ने की प्रतिज्ञा तो की किन्तु प्रयत्न करने पर भी वह सफलता प्राप्त न कर सका। अतः अचल निराश होकर मरने हेतु श्मशान जा रहा था तभी मांस लोलुप पिशाच से भेंट हुई। पिशाच को वह अपना मांस काट-काट कर देने लगा। पिशाच ने अचल की त्याग भावना से सन्तुष्ट होकर वर मांगने को कहा। परन्तु अचल मौन रहा। उसकी चिन्ता जानकर पिशाच ने उसे पूर्ववत् सुन्दर बना दिया और उसे चोर का नाम पता भी बता दिया।

पिशाच के बताये हुए संकेतानुसार प्रातः ही अचल उस चोर के आश्रम में पहुँच गया, जहाँ वह और उसका शिष्य साधुवेष में थे। श्रोतागण भक्तिपूर्वक उसका उपदेश सुन रहे थे। अचल ने सारी बात राजा से कहीं। उसे पकड़ने का उपाय सोचा। राजा के रोगी होने का समाचार प्रचार किया गया। जब वह साधुवेषधारी चोर राजा के रोगोपचार में जुटा था, तभी उसे पकड़ लिया गया। राजा ने उसे मरवा डाला। अचल अपने को उस साधु की मृत्यु का दोषी मानकर पश्चात्ताप करता हुआ आत्महत्या हेतु वन में निकल पड़ा। वहीं एक ध्यानमग्न मुनि के दर्शन हुए। अचल ने श्रामणी दीक्षा ले ली। घोर तप किया। फलस्वरूप अनेक लब्धियां प्राप्त हुईं। अचल मुनि ने एक बार सुना कि निश्चयपुर का राजा रामचन्द्र श्रमण संघ का विरोधी है। वह विहार करके निश्चयपुर पहुँचे, पुष्पावर्तंस उद्यान में ठहरे। उन दिनों राजा के हाथियों को कोई भयंकर रोग लग गया था।

अनेक उपाय करने के बाद भी रोग शान्त न हुआ। अचल मुनि के पदार्पण का वृत्तान्त सुनकर राजा भक्तिसहित वन्दन करने पहुँचा। अपनी व्यथा कथा कह सुनाई। अचल मुनि ने शासन प्रभावना होते देख श्रमणों का चरणोदक रुग्ण हाथियों पर छींटने को कहा। राजा ने वैसे ही कराया। हाथी स्वस्थ हो गये। जैन शासन की जय जयकार होने लगी। राजा एवं प्रजाजनों ने जैनधर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकार किया। सभी श्रमणों के भक्त बन गए। धर्म प्रभावना के प्रभाव से मुनि अचल ने त्रैलोक पूजित तीर्थङ्कर गोत्र बन्धकर लिया। महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वहाँ तीर्थङ्कर बने, सिद्ध मुक्त हुए। यह है धर्म प्रभावना का ज्वलन्त उदाहरण।[1]

1- कथारत्नकोष, भाग 1, कथा 9

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन के अन्य प्रशमादि चार गुण

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन (भक्ति) के अन्य गुणों की भी चर्चा की गई है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शन के चार गुण या अड्.ग हैं। इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन भी मिलता है। जैसा कि पञ्चाध्यायी के उत्तरार्द्ध में प्रशम आदि गुणों का वर्णन किया गया है। यथा—

1-प्रशम गुण

प्रशम का अर्थ है शान्तभाव अर्थात् विपरीत परिस्थितियों के आने पर भी अपने शान्त भावों को बनाये रखना।[1]

2- संवेग गुण

संवेग का अर्थ है प्रीति या उत्साह। धर्म एवं उससे सम्बन्धित वीतरागादि गुणों की प्राप्ति हेतु उत्साह का बढ़ना।[2]

1- "प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च,
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ।
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्,
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ।।
—पञ्चाध्यायी, पद्य-426,427

2- "संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्तः ।
सधर्मेस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ।।"
— देखिए, वही, पद्य- 431

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3- अनुकम्पा गुण

अनुकम्पा का तात्पर्य कृपा से है। सब जीवों पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है अथवा मैत्रीभाव का नाम अनुकम्पा है। मध्यस्थभाव का रखना या शत्रुता का त्यागकर देने से निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है।[1]

4- आस्तिक्य गुण

स्वतः सिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य गुण है।[2]

अन्य आठ गुण

उपर्युक्त प्रशमादि गुणों के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के आठ गुण और भी कहे गये हैं। जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है--

"संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरूहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ।।"[3]

1- "अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ।।"--पञ्चाध्यायी, पद्य-432

2- "आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ।।"
--देखिए, वही, पद्य-452

3- (क) व०श्रा०, गा०- 49

(ख) अमितगतिश्रावकाचार, परिच्छेद-1, श्लोक-74-82

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यग्दर्शन के आठ गुण हैं। वास्तव में ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणों के अतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि संवेग, उपशम और अनुकम्पा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणों में नामोक्त ही हैं। निर्वेद संवेग का पर्यायवाची है। भक्ति और वात्सल्य संवेग के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ हो जाते हैं।[1]

सम्यग्दर्शन (भक्ति) के दोष

सम्यग्दर्शन अर्थात् भक्ति को दूषित करने वाले पच्चीस दोष भी जैन साहित्य में बतलाये गये हैं। जैसा कि कहा गया है—

"मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ।।"[2]

शङ्कादिक आठ दोष (शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य तथा अप्रभावना), आठ मद (ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप तथा शरीर), छः अनायतन (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुसेवक, कुगुरुदेवसेवक एवं कुगुरुधर्मसेवक) और तीन मूढताएँ (लोक, देव और गुरु) ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन के निःशंकित, निष्कांक्षित आदि आठ अङ्गों से विपरीत शंका, कांक्षा आदि आठ दोष कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन के अङ्गों के लिए शंका, कांक्षा आदि आठ दोषों का त्याग करना आवश्यक है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति

1- दर्शनपाहुड, अष्टपाहुड, पृ0 -10

2- (क) पु0सि0, पद्य-24, 25

(ख) रत्न0श्रा0, श्लोक- 22-25

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि आठ का आश्रय लेकर गर्वित होने को मद कहते हैं।[1] अपने आप में बड़प्पन का अनुभव करते हुए दूसरों को तुच्छ समझना मद कहलाता है। पाखण्डिगुरु, पाखण्डि धर्म आदि की भक्ति करना अनायतन दोष है। लौकिक कार्यों में मूर्खतावश (मूढ़ता) प्रवृत्ति करना लोकमूढ़ता कहलाती है।[2] ऐहिकफल की इच्छा रखने वाला जो पुरुष वाञ्छित फल की आशा से रागी-द्वेषी देवों की उपासना करता है उसका वैसा करना देवमूढ़ता कहलाती है।[3] अविवेकी, पाखण्डी गुरु की भक्ति, वन्दना आदि करना गुरु मूढ़ता है।[4]

सम्यग्दर्शन की शुद्धता के लिए या भक्ति की पूर्णता के लिए उपर्युक्त पच्चीस दोषों का अभाव होना, निःशंकित आदि आठ अङ्गों से युक्त प्रशम, संवेग इत्यादि गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है।[5]

1- "ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।"
-- रत्न०श्रा०, पद्य-25

2- देखिए, वही, पद्य-22

3- देखिए, वही, पद्य-23

4- देखिए, वही, पद्य-24

5- "इच्चाइगुणा बहवो सम्मत्तविसोहिकारया भणिया ।
जो उज्जमेदि एसु सम्माइट्ठी जिणक्खादो ।।
संकाइदोसरहिओ णिस्संकाइ गुणजुयं परमं ।
कम्मणिज्जरणहेऊ तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ।।"
--व०श्रा०, गा०- 50-51

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार से इस अध्याय में जैनाचार्यों के द्वारा स्वीकृत भक्ति के स्वरूप का विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। इसे ही "श्रद्धा" "सुश्रद्धा" वैयावृत्य, सम्यग्दर्शन आदि शब्दों से कहा गया है।

विक्रम की प्रथम शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् जिनेन्द्र से भक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की याचना करते हैं। विक्रम की छठीं शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद ने जिनेन्द्र के अनुराग को भक्ति कहा है। यद्यपि राग को मोह कहा है और जैनों का सम्पूर्ण वाङ्मय मोह के निराकरण की बात करता है, किन्तु वीतरागी में किया गया राग उपर्युक्त मोह की कोटि में नहीं आता है। मोह सांसारिक स्वार्थ को लेकर होता है और भक्त का तीर्थङ्कर आदि के प्रति राग सांसारिक स्वार्थ से युक्त नहीं होता। वीतरागी से राग करने का अर्थ है, तद्रूप होने की प्रबल आकांक्षा का उदय होना। अर्थात् वीतरागी से राग करने वाला स्वयं वीतरागी बनना चाहता है। इसीलिए जैन आचार्यों ने अन्तिम अवस्था में (जीवन्मुक्त होने के पूर्व) तीर्थङ्कर आदि के प्रति भी राग को छोड़ देने का निर्देश किया है। यहाँ इतना विशेष है कि भक्ति को निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से देखकर ही परमार्थ की साधना करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीय अध्याय

भक्ति के साधन एवं भेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्ति के साधन एवं भेद

इस अध्याय को दो परिच्छेदों में विभक्त किया गया है--
(1) भक्ति के साधन एवं (2) भक्ति के भेद ।

प्रथम परिच्छेद

भक्ति के साधन

जैन साहित्य में भक्ति के नौ साधनों का उल्लेख हुआ है। वे नौ साधन हैं--(1) पूजा, (2) स्तुति-स्तोत्र, (3) संस्तव-स्तव, (4) उपासना, (5) वन्दना, (6) विनय, (7) मङ्गल, (8) सामायिक तथा (9) महोत्सव।[1] इन नौ प्रकारों का क्रमशः विवेचन आगे प्रस्तुत है--

वैदिकभक्ति के साधन

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत श्रीमद्भागवत में भक्ति के दो भेद किये गये हैं-- साध्यरूपा भक्ति और साधनरूपा भक्ति। साधनारूपा भक्ति से भक्ति के साधनों का बोध होता है। साधनारूपा भक्ति को ही नवधा भक्ति, वैधी भक्ति तथा मर्यादा भक्ति कहा गया है।

नवधा भक्तियां निम्न प्रकार की हैं-- (1) श्रवण भक्ति, (2) कीर्तन-भक्ति, (3) स्मरण भक्ति, (4) अर्चन भक्ति, (5) वन्दनभक्ति, (6) पादसेवनभक्ति, (7) आत्मनिवेदन भक्ति, (8) दास्य भक्ति और (9) संख्य भक्ति।[2] इन नवधा

1- सन्मति वाणी, सन् 1979, पृ० 21

2-(क) श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 3, अध्याय 29, पद्य- 15-20

(ख) कल्याण, अंक 11, वर्ष 24, सन् 1950, पृ० 1505

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्तियों का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है।

साधनारूपा भक्ति के पांच अङ्ग माने गये हैं-- उपासक, उपास्य, पूजा द्रव्य, पूजाविधि तथा मन्त्रजाप। उपासना को भी भक्ति का साधन माना गया है। भागवत्कार भक्ति के साधनों का माहात्म्य प्रतिपादित करते हुये कहते हैं कि "जैसे पुष्प की सुगन्ध वायु के द्वारा उड़कर नासिका तक पहुंच जाती है, वैसे ही भक्ति के साधनों में तत्पर रागद्वेषादि विकारों से शून्य, चित्त परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।[1]

भागवत् भक्ति के साधनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें भक्त के अन्त:करण की पवित्रता, प्रभु परायणता तथा कारुण्यभाव प्रमुख है। अन्त:करण की पवित्रता के लिए देवभक्ति, महान् पुरुषों का सत्सङ्ग, यम-नियम तथा तत्सम्बन्धी आचार का पालन, नित्य नैमित्तिक कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है। प्रभु-परायणता के लिए मन की पवित्रता, अहंकार का त्याग धैर्य और वैराग्य का अवलम्बन, भक्ति सम्बन्धी शास्त्रों का श्रवण, भगवान् के गुणों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा और आत्म-निवेदन आदि आवश्यक हैं। हृदय को शीघ्र द्रवित कर देने वाला साधन कारुण्य भाव माना गया है। यह साधन भक्त को प्रभु-प्रवण बनाने में सहायता देता है।[2]

वैदिक भक्ति के साधनों पर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि वैदिक सभी साधनों का समावेश जैनभक्ति के साधनों में हो जाता है।

1- देखिए, श्रीमदभागवत, स्कन्ध 3, अध्याय 29, पद्य- 15-20

2- (क) देखिए, वही, स्कन्ध 7, 5/23 तथा 11/3

(ख) भक्ति का विकास, पृ0 313, 314, 315

(ग) नारदभक्तिसूत्र, अध्याय-1

(घ) शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, अध्याय-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक साधनों का समावेश कैसे जैनभक्ति के नौ साधनों में होता है? इसका विचार यहां प्रस्तुत है--

1- पूजा

उत्पत्ति एवं परिभाषा

"पूजा" शब्द "पूज्" धातु से बना है। "पूज्" धातु पुष्पादि के द्वारा अर्चन करने में, गन्ध, माला, वस्त्र, पात्र, अन्न-पानादि के द्वारा सत्कार करने के अर्थ में, स्तवादि के द्वारा सपर्या करने में, पुष्प, फल, आहार वस्त्रादि के द्वारा उपचार करने में आती है।[1] पूजा का प्राकृत रूप "पूआ" है जिसका अर्थ सेवा-सत्कार करना होता है। सेवा-सत्कार को "वैयावृत्य" कहा गया है।[2]

आचार्य समन्तभद्र ने पूजा को "वैयावृत्य" कहकर देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणों की सेवा करना ही पूजा कहा है। उनकी यह सेवा जल, चन्दन और अक्षतादि रूप न होकर "गुणों के अनुसरण" और "प्रणामाञ्जलि" तक ही सीमित थी[3], किन्तु छठीं शताब्दी के आचार्य यतिवृषभ ने पूजा में, गन्ध, जल, तन्दुल, उत्तम भक्ष्य, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों को भी शामिल कर दिया।[4]

बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में आचार्य वसुनन्दि ने अष्टमङ्गल द्रव्यों का उल्लेख किया है। पूजा विधान का वर्णन करते हुए वे कहते हैं--

---

1- अभि॰रा॰को॰, भा॰ 5, पृ॰ 1073

2- पा॰स॰म॰, पृ॰ 755

3- "देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्व-दुःख-निर्हरणम् ।
कामदुहिकामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम् ।।"
--रत्न॰श्रा॰, पद्य-119 तथा देखिए, समी॰धर्म॰, 5/29

4- तिलोयपण्णत्ति, भा॰ 2, अध्याय 7, गा॰ 49

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं तथा शास्त्र की जो वैभव से नाना प्रकार की अर्चना की जाती है, उसे पूजन-विधान समझना चाहिए।"[1]

डॉ० मोहनलाल मेहता ने पूजा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं--"श्रद्धा और प्रेमतत्त्व के समीकरण से भक्ति का जन्म होता है और श्रद्धा, भक्ति एवं अनुराग अथवा जन्म-मरण-भय के मिश्रण से पूजा की उत्पत्ति होती है।"[2]

पूजा-भेद

सामान्यतः पूजा के दो भेद हैं-- भावपूजा (जलादि द्रव्य के बिना की जाने वाली) और द्रव्यपूजा (जलादि द्रव्य से की जाने वाली)।[3] विशेषरूप से द्रव्य पूजा गृहस्थों के लिए और भावपूजा साधुओं के लिए कही गई है।[4] सामान्यरूप से दोनों को (गृहस्थ और साधु) भावपूजा का प्राधान्य है। भाव (अन्तःकरण की भावना) के बिना द्रव्यपूजा कार्यसाधिका नहीं होती। वस्तुतः द्रव्यपूजा साधन है और भावपूजा साध्य। अतः भाव के बिना द्रव्यपूजा का

1- "अट्ठविहमंगलाणि य बहुविहपूजोवयरणदव्वाणि ।
धूवदहणाइ तहा जिणपूयत्थं वितीरिज्जा ॥
जिण-सिद्ध-सूरि-पाठ्य-साहूणं जं सुयस्स विहवेण ।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं ॥
-- व०श्रा०, गा०-442,380

2- जिनपूजा का महत्त्व, सार्धशताब्दीस्मृतिग्रन्थ, पृ० 53

3- अमितगति श्रावकाचार, अध्याय 12, पद्य- 12,13,14

4- अभि०रा०को०,भा० 3, पृ० 1217

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्व नहीं है। आचार्य वसुनन्दि ने अन्य प्रकार से पूजा के छः भेद बतलाये हैं[1]-- यथा- (1) नामपूजा[2] (अर्हन्त आदि का नाम उच्चारण करके पूजा करना), (2) स्थापनापूजा[3] (अर्हन्त प्रतिमा को स्थापित कर पूजन करना), (3) द्रव्यपूजा[4] (जलादि द्रव्य से पूजन करना), (4) भावपूजा[5] (अन्तःकरण की भावना से या अर्हन्तादि के गुणों का कीर्त्तन करना), (5) क्षेत्रपूजा[6] (जिन भगवान की जन्म कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, निर्वाणभूमियों का विधानपूर्वक पूजन करना), तथा (6) कालपूजा[7] (तीर्थङ्करों के जन्म, तप, निर्वाण आदि समय विशेष की पूजन करना)।

अन्यत्र आदिपुराण आदि में नित्यपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा एवं अष्टाह्निकापूजा के भेद से पूजा के चार प्रकार मिलते हैं।[8] इनके अतिरिक्त

1- "णामट्ठवणा दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य ।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ।।"
—व0श्रा0, गा0-381

2- धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 9/87

3- व0श्रा0, गा0- 383-386

4- देखिए, वही, गा0 448-451

5- देखिए, वही, गा0 456-458

6- धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 9/95

7- (क) व0श्रा0, गा0 453-455
(ख) धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 9/96-97

8- (क) आदिपुराण, 38/16
(ख) भावसंग्रह, श्लोक 555-560

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावसंग्रह में इन्द्रध्वज नामक पूजा का भेद भी मिलता है।[1]

पूज्य योग्य पात्र की दृष्टि से भी पूजा के भेद मिलते हैं। जैसे- देवपूजा, शास्त्रपूजा और गुरुपूजा।[2] आचार्य सोमदेव ने पूजा के प्रकार पूजाक्रम के अनुसार बतलायें हैं। उनके अनुसार- प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा का फल, इन छः प्रकार से पूजा की जाती है।[3]

इस तरह जैन ग्रन्थों में पूजा के विभिन्न दृष्टियों से पूजा के भेद मिलते हैं। जैसे- जलादि द्रव्य की अपेक्षा को लेकर, पूज्य के भेद को लेकर, समय विशेष को लेकर, स्थान विशेष को लेकर आदि। परन्तु इन सभी में आराध्य के प्रति भक्तिभाव ही प्रमुख है। उसकी अभिव्यक्ति जैसे सम्भव हो उसी प्रकार पूजा करना चाहिए, इसीलिए सभी पूजा भेदों में भाव का प्राधान्य है।

जैन पूजा का महत्त्व

भारतीय साहित्य में पूजा साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। सभी सम्प्रदायों ने पूजा साहित्य में अपने-अपने आराध्य देव की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसके चरणों में अपने को अर्पण किया है। जैन पूजा साहित्य में मूलतः आराध्य वीतराग देव के गुणों का स्मरण एवं मनन किया गया है। इसमें किसी देवयोनि के देव विशेष की पूजा नहीं की गई, बल्कि आत्मिक गुणों की पूजा की गई है।[4] यहाँ पूजा से आत्मनिर्मलता की प्राप्ति अभिप्रेत है।

1- भावसंग्रह, श्लोक- 559

2- अभि०रा०को०, भा० 5, पृ० 1075

3- य०च०, पद्य- 8/20

4- तत्त्वार्थसूत्र, मङ्गलाचरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत: जैन पूजा की विशेषता परमात्मा के गुणों की प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणों की प्राप्ति की भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ़, प्रकर्ष एवं विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी अधिक निकट होती जायेगी। कालान्तर में वैदिकपूजा का प्रभाव जैन साहित्य पर पड़ा और जैनों ने भी वैदिक पूजा के समान पूजा पद्धतियों को अपनाना आरम्भ कर दिया। फलत: शासन देव और देवियों की भी पूजा की जाने लगी।

जैन परम्परा में पूजा गृहस्थों के आवश्यक कार्यों में गिनाई जाती है। उसे पुण्यकर्म भी कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने पूजा को "पुण्यगुण-स्मृति" कहा है।[1] आचार्य पूज्यपाद की भक्तियों से भी स्पष्ट है कि वीतरागता के हेतु वीतराग परमात्मा के पुण्यगुणों का स्मरण किया जाता रहा है।[2] यथार्थ में सच्ची जिनपूजा तो जिनत्व को उपलब्ध करना है, शुद्धभावरूप से परिणमन करना है तथा परमात्मा जैसी विशुद्धता को प्राप्त करना ही है।

जैन पूजा का विकासक्रम

जैन परम्परा में पूजनपद्धति का विकास एकाएक नहीं हुआ है। स्तुति-स्तोत्र रूप में आराध्य को प्रसन्न करने की परम्परा भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद से ही उपलब्ध होती है। यह सम्भव है कि जैन परम्परा में स्तोत्र

1- (क) स्व०स्तो०, 12/2

(ख) सभी०ध०मं०, 5/29

2- (क) देखिए, संस्कृत दशभक्तियां, प्रस्तावना

(ख) भा०सं०वि०जै०वा०यो०, पृ० 20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पढ़ते हुए क्षेपण द्वारा पूजा क्रिया को सम्पन्न किया जाता रहा हो? आरम्भ में गुण स्तवन के रूप में भक्ति भावना प्रचलित थी।[1] अष्ट द्रव्य रूप पूजन का प्रचार उसके पश्चात् ही हुआ है। खारवेल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि नन्द के समय में पूजन-पद्धति का प्रचार था। राजा नन्द का समय लगभग ईसा से 170 वर्ष पूर्व माना गया है।[2] मुनि (साधु) त्यागी होने के कारण गुणानुवाद रूप भक्ति करते थे, परन्तु जब गृहस्थों के विधेय (कर्त्तव्य) में पूजन को परिगणित किया गया तो द्रव्य रूप पूजा का विकास हुआ।

डॉ0 नेमिचन्द्र शास्त्री का कथन है कि पूजा पद्धति का प्रादुर्भाव श्रमणों द्वारा हुआ है। वे कहते हैं कि प्रारम्भ में पूजा केवल दिव्य पुष्पों से की जाती थी, परवर्तीकाल में क्रमशः धूप, चन्दन, नैवेद्य आदि का प्रचलन होते-होते अष्ट द्रव्यों से पूजा की जाने लगी। आगे वे पुनः लिखते हैं कि- "वैदिक संस्कृति में यज्ञ का स्थान महत्वपूर्ण है, देव पूजा का नहीं। देवपूजा मूलतः श्रमणों की उपासना पद्धति है, वैदिक आर्यों की नहीं।[3] डॉ0 नेमिचन्द्र जी का यह कथन सत्य है कि पूजा पद्धति का विकास श्रमणों की देन है, परन्तु इतना अवश्य है कि वैदिक यज्ञों के प्रतिफल रूप इसका विकास हुआ है। अन्यथा जैनों में वीतरागता के कारण पूजा का प्रयोजन ही नहीं था।

1- (क) "ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां धिक् च तेषां गृहाश्रमम् ।।
प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ।।"
— पद्मनन्दि पंचविंशति, उपासक संस्कार, 6/14-15

(ख) वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, नमिजिनस्तवन, पद्य-1

2- भा0सं0जै0वा0यो0, पृ0 386

3- देखिए, वही, पृ0 20,21,380,381

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन पूजा साहित्य पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक विपुल मात्रा में रचा गया है। जैन संस्कृत पूजा साहित्य के अब तक के उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग 600 है, जिनमें 270 ग्रन्थ लेखकों के नाम सहित मिलते हैं। भट्टारक युग 13वीं शती से 18वीं शती तक पूजाभक्ति साहित्य का सर्वाधिक सृजन हुआ है। पूजासाहित्य में हरिभद्रसूरिकृत पूजा-पन्चाशिका, भद्रबाहुकृत पूजा-प्रकरण, आचार्य नेमिचन्द्रकृत पूजा-विधान, आचार्य जिनप्रभकृत पूजा-प्रकरण और उमास्वाति वाचककृत पूजाविधिप्रकरण प्राचीन ग्रन्थ हैं।[1]

भारतीय ज्ञानपीठ आदि संस्थाओं से अनेक जैन पूजन संग्रह प्रकाशित हुये हैं। जिनमें पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित "ज्ञानपीठ पूजान्जलि, पण्डित पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा कृत श्री बृहज्जिनवाणी संग्रह, श्री वृन्दावन द्वारा रचित नित्यनियमपूजा तथा चतुर्विंशतिजिनपूजा एवं श्री रतनलाल नानूराम इन्दौर द्वारा सम्पादित पूजापाठ संग्रह आदि प्रमुख हैं।

जलाभिषेक

जिनप्रतिमा का अभिषेक भगवद्-पूजा का प्रमुख अङ्ग माना गया है। जलाभिषेक का सर्वप्रथम उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य ने किया था।[2] इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी प्राकृत भक्तियों में नन्दीश्वर द्वीप व अन्य अकृत्रिम चैत्यालयों में इन्द्र व अन्य देवों द्वारा जिनाभिषेक करने का

1- भा०सं०जै०वा०यो०, पृ० 350-475

2- अहिंसावाणी, अंक 11, वर्ष 13, पृ० 19

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेचन किया है। वे लिखते हैं-- "मैं नन्दीश्वर भक्ति कर कायोत्सर्ग करता हूँ। नन्दीश्वरद्वीप[1] की चारों दिशाओं और विदिशाओं में अंजनगिरि, दधिमुख और रतिकर पर्वत है उन पर जो जिन चैत्यालय है उनकी तीनों लोकों में रहने वाले भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी चारों प्रकार के देव अपने-अपने परिवार सहित आषाढ़, कार्त्तिक और फाल्गुन मास की शुक्ला अष्टमी से लेकर पूर्णमासी तक दिव्य गन्ध, दिव्य पुष्प, दिव्य धूप, दिव्य चूर्ण, दिव्य वस्त्र और दिव्य अभिषेक से सदा पूजा, वंदना एवं नमस्कार करते हैं। इसप्रकार वे नन्दीश्वर-महाकल्याण को सम्पन्न करते हैं। मैं भी यहाँ रहकर सदा पूजा, वंदना, नमस्कार करता हूँ।"[2]

उक्त कायोत्सर्ग आलोचना पाठ से नन्दीश्वरद्वीप में जाकर चारों प्रकार के देवों द्वारा अर्हन्त की अकृत्रिम प्रतिमाओं के अभिषेक करने का स्पष्टीकरण सहज ही हो जाता है। आगे आचार्य कुन्दकुन्द पुनः लिखते हैं-- "विशेष भेद रूप वर्णन क्या करें, संक्षेप में यह कि सौधर्मेन्द्र तो स्वयं उनका (नन्दीश्वरद्वीप में प्रतिमाओं का) अभिषेक करता है शेष चन्द्रमा के समान निर्मल यशस्वी इन्द्र उस (सौधर्मेन्द्र) के परिचारक बनकर उसकी जिन-अभिषेक में सहायता करते हैं।"[3]

1- "मध्यलोक में आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। इसका विस्तार एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है और यह द्वीप समुद्र से घिरा हुआ है। इस द्वीप में 16 वापियां, 4 अंजनगिरि, 16 दधिमुख और 32 रतिकर नाम के कुल 52 पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वत पर एक-एक चैत्यालय हैं। सभी चैत्यालय अकृत्रिम है और अनादिकाल से चले आ रहे हैं।"

-- त०सू०, 3/7,8,9

2- प्राकृतदशभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, पृ० 28

3- प्राकृतदशभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, गा०-15

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद् यतिवृषभाचार्य प्रणीत तिलोयपण्णत्ति एक विशाल व प्रमाणिक प्राचीन ग्रन्थ माना गया है। ये आचार्य ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने ग्रन्थ के तृतीय महाधिकार में भवनवासी देवों की उत्पत्ति समय का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे जब उत्पन्न होते हैं तो उस समय अनेक विचार उनके मन में अवधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्वभव का चिन्तवन करते हुए आते हैं जिन्हें चिन्तवन करते हुए वे सर्वप्रथम सावधानी के साथ व्यवसायपुर में प्रवेश कर पूजा और अभिषेक के योग्य द्रव्यों को लेकर देव-देवियों सहित नर्तन, विचित्र क्रीड़न, माला, उत्कृष्ट चंवर और छत्र से शोभायमान तथा प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होते हुए कूट पर स्थित जिन भवन को जाते हैं, वहां भगवान् का भक्तिभाव से दर्शन पूजन आदि अनेक वादित्र बजाकर करते हैं।[1]

अभिषेकपूर्वक पूजन करने की अनादि परम्परा मानी जाती है। अर्हन्त प्रतिमा का अभिषेक भक्त के भक्तिभाव को प्रकट करने की सर्वोत्कृष्ट रीति या प्रक्रिया है। अत: देव अभिषेकपूर्वक ही पूजन किया करते हैं। भगवान् का अभिषेक करते हुए चित्त के एकाग्र हो जाने के कारण जो अनुपम आनन्द और शान्ति आत्मा को प्राप्त होती है उसे अनुभवी ही जान सकते हैं। आगे आचार्य यतिवृषभ पुन: लिखते हैं— "कर्मों के क्षय करने के उद्देश्य से ही जिनेन्द्र पूजा देवों और मानवों द्वारा की जाती है, कर्मों का बंध करने को नहीं।"[2]

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती त्रिलोकसार नामक ग्रन्थ में अकृत्रिम जिनचैत्यालयों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"वे चैत्यालय वंदन, अभिषेक, नर्तन, संगीत, अवलोकन योग्य मण्डल से युक्त हैं, जहां बैठकर भगवान् का अभिषेक व पूजनादि देखे जाते हैं।"[3]

1- तिलोयपण्णत्ति, गा0- 218

2- तिलोयपण्णत्ति, गा0 228

3- त्रिलोकसार, नरतिर्यग्लोकाधिकार, पद्य- 1009

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त उद्धरणों के द्वारा अनादिकाल से ही अर्हन्त प्रतिमा के अभिषेक होने की बात स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आगे कुन्दकुन्द पुन: लिखते हैं कि नन्दीश्वर द्वीप में चैत्यालयों की रचना इतनी विशाल है कि उनमें समवशरण के समान ही तोरणद्वार एवं मानस्तम्भादि हैं। वहाँ ऐसे स्थान बने हुए हैं जहाँ बैठकर भगवान् का इन्द्र द्वारा किया जाने वाला अभिषेक भलीभाँति देखा जा सकता है। वहाँ के चैत्यालय अनुपम क्रीड़ाभूमि, संगीतभूमि तथा नाटकशालाओं से सुशोभित है जिनकी यहाँ के शिल्पी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।"[1]

अतएव सिद्ध है कि जिन प्रतिमाओं के अभिषेक होते हैं, साथ में यह भी प्रमाणित होता है कि अभिषेक के पश्चात् दिव्य वस्त्रों से प्रक्षाल भी जिन प्रतिमा का देवेन्द्रों द्वारा किया जाता है।[2]

वर्तमान जैन पूजा पद्धति में पूजा को प्रारम्भ करते समय आह्वान, स्थापना और सन्निधीकरण की क्रिया सर्वप्रथम की जाती है। तदनन्तर जिन प्रतिमा का जलादि द्वारा अभिषेक किया जाता है। अभिषेक के बाद जल,चन्दन, अक्षत, नैवेद्य, धूप, फल आदि अष्टद्रव्यों से पूजन की जाती है। अन्त में शान्ति प्रदान करने हेतु शान्तिपाठ का आयोजन कर"पूजन क्रिया" का विसर्जन कार्य किया जाता है।[3]

1- प्राकृतदशभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, गा0 22

2- देखिए, वही, पृ0 28

3- ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, प्रस्तावना, पृ0 28

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2- स्तुति-स्तोत्र

परिभाषा

आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना स्तुति है। भगवान् जिनेन्द्र के अनेक गुणों का वर्णन करना सम्भव नहीं है। अतएव अपनी लघुता दिखाते हुए उनकी प्रशंसा करना स्तुति है।[1] रचना शैली के अनुसार एक, दो और तीन श्लोकों में किया गया गुणानुवाद स्तुति कहलाती है। इससे अधिक श्लोक होने पर स्तोत्र कहलाते हैं।[2]

स्तुति-स्तोत्र एवं पूजा में अन्तर

पूजा और स्तोत्र में शैलीगत भेद माना जा सकता है। भाव की दृष्टि से दोनों समान है। अतः उनका परिणाम भी समान है।[3] यहां पर पूजा का तात्पर्य द्रव्यपूजा से है क्योंकि भावपूजा में तो स्तोत्र भी शामिल है। पूजक का ध्यानपूजन की बाह्य सामग्री स्वच्छता आदि पर ही रहता है, जबकि स्तुति करने वाले भक्त का ध्यान एकमात्र स्तुत्य व्यक्ति के विशिष्ठ गुणों पर टिकता है। वह एकाग्रचित्त होकर अपने स्तुत्य के एक-एक गुण को मनोहर शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में निमग्न रहता है। स्तुति और स्तोत्र में कोई मौलिक भेद न होकर स्तुति को पद्यों का विस्तार होने पर उन्हें स्तोत्र कहा जाता है।[4]

1- "गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथास्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्।।"
-- स्व०स्तो०, 18/1

2- जैनलक्षणावली, भा03, पृ0 1179

3- अनेकान्त, वर्ष 14, किरण 7, पृ0 194

4- देखिए, वही ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुति-स्तोत्र का महत्त्व

जैनभक्ति साहित्य में स्तुति एवं स्तोत्रों का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। तीर्थङ्करों की स्तुति से साधक को महान् आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है। उसका मिथ्या अहंकार नष्ट हो जाता है और वर्षों से संचित कर्म उसी प्रकार से नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्नि की नन्हीं सी प्रज्वलित चिनगारी घास के विराट ढेर को भस्म कर देती है। जैसाकि श्री वादिराज मुनि ने भी कहा है- "जैसे जमीन में गढ़ा हुआ धन कुदाली के बिना प्राप्त नहीं हो सकता, उसी तरह कर्मरूपी परदे के भीतर छुपा हुआ आत्मज्ञान आपके स्तोत्रों के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जब आपकी स्तुति से कर्मों का पटल क्षीण होगा, तभी आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।"[1]

तीर्थङ्करों की स्तुति अन्तःकरण का स्नान है। उससे स्फूर्ति, पवित्रता व बल प्राप्त होता है। तीर्थङ्करों की स्तुति करने का अर्थ है उनके सद्गुणों को उनके उच्च आदर्शों को अपने जीवन में मूर्त्तरूप देना। स्तोत्रों के साथ उनका महत्व प्रदर्शित करने के लिए चमत्कारपूर्ण आख्यानों की योजना की गई है।[2] मयूर, पुष्पदन्त, वाणप्रभृति कवियों के स्तोत्रों के पीछे कोई न कोई चमत्कारपूर्ण आख्यान वर्तमान हैं। पूजा-पद्धति के आरम्भ होने के पूर्व स्तोत्रों की परम्परा भक्ति के क्षेत्र में विद्यमान मानी जाती है।[3] यही कारण है कि भक्तामर स्तोत्र, एकीभावस्तोत्र और कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि जैन स्तोत्रों के साथ भी चमत्कारपूर्ण आख्यान जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो पर ये स्तोत्र आत्मशुद्धि उत्पन्न कर, अभीष्टसिद्धि में अवश्य सहायता करते हैं।

1- एकीभावस्तोत्र, पद्य-15

2- अनेकान्त, फरवरी, 1966, पृ० 244

3- देखिए, वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनस्तुति-स्तोत्रों का विकास

जैन स्तुति स्तोत्रों की परम्परा उतनी ही प्राचीन मानी जाती है जितनी कि जैनसंघ की सुव्यवस्था। कारण, जैन मुनियों के लिए छः आवश्यक क्रियाओं (षट् आवश्यक कर्म) का जो जैन शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है उनमें चतुर्विंशति स्तव भी सम्मिलित है। भक्ति से ओतप्रोत स्तुतियों का प्रारम्भिक रूप आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्राकृत एवं पूज्यपाद रचित संस्कृत भक्तियों में दिखायी पड़ता है। तत्पश्चात् एक ओर जहाँ कुछ आचार्यों ने दार्शनिक पुट देकर स्तुतियों का निर्माण किया वहीं दूसरी ओर तीर्थङ्करों का गुणानुवाद कर, उनके अनेक नामों का उल्लेख मात्र कर स्तुतियों की रचना की गई। दार्शनिक स्तुतियों में आचार्य समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा, सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिकाएँ तथा हेमचन्द्रकृत अन्ययोग व अयोगव्यवच्छेदिकाएँ आदि हैं। दूसरी प्रकार की स्तुतियों में जिनसेनकृत जिनसहस्रनाम स्तोत्र उल्लेखनीय है। इस स्तोत्र में नाना विशेषणों द्वारा तीर्थङ्कर का गुणानुवाद किया गया है। जिनसहस्रनाम स्तोत्र का महत्व इसी से सिद्ध होता है कि उस समय इस स्तोत्र को आधार बनाकर इसी तरह के अनेक स्तोत्रों का निर्माण किया गया। इनमें सिद्धसेन दिवाकर, पं० आशाधर एवं देवविजयगणि रचित जिनसहस्रनाम उल्लेखनीय है।[1]

जैनस्तुतिस्तोत्रों की प्रारम्भिक रचना प्राकृत भाषा के अन्तर्गत ही मिलती है। उवसग्गहर स्तोत्र सर्वप्राचीन जैन स्तोत्र प्राकृत भाषा में छठीं शताब्दी वि०सं० के मध्यकाल में लिखा गया था। इसके रचयिता भद्रबाहु थे।

1- भा०सं०वि०जै०वा०यो०, पृ० 124

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस स्तोत्र में केवल पांच पद्य हैं, किन्तु इतने सशक्त कि उन पर कई टीकायें रची गयी। उवसग्गहर स्तोत्र में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। इसी श्रेणी में निम्नलिखित स्तोत्र भी आते हैं-- अभयदेवकृत जयतिहुयण स्तोत्र (11वीं शती), नंदिषेणकृत अजियसंतित्थव (9वीं शती), जिनपद्मकृत शांतिनाथ स्तवन (14वीं शती), आ0 कुन्दकुन्दकृत तित्थयर थुदि (वि0 प्रथम शताब्दी), मानतुङ्गसूरिकृत भयहर स्तोत्र (वि0की 7वीं शताब्दी) आदि प्रमुख है।[1]

संस्कृत जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति-स्तोत्रों का अत्यधिक निर्माण हुआ है। संस्कृत में काव्यशैली की सर्वप्राचीन दो स्तुतियां समन्तभद्रकृत वृहद्-स्वयम्भू स्तोत्र और स्तुति विद्या उपलब्ध है। इनकी रचना का समय वि0 की द्वितीय शताब्दी माना गया है। स्तुतिपरक होने से आचार्य समन्तभद्रकृत स्वयम्भू स्तोत्र भक्तियोग की प्रधानता को लिये हुये है। गुणानुराग को जैनधर्म में भक्ति कहा गया है। जब तक मानव का अहंकार नष्ट नहीं होता तब तक उसकी विकास-भूमि तैयार नहीं होती। पहले से यदि कुछ विकास होता भी है तो वह अहंकार आते ही विनष्ट हो जाता है। भक्तियोग से जहां अहंकार मरता है वहां विनय का विकास होता है। मृदुता उत्पन्न होती है। इसी कारण विकासमार्ग में सबसे पहले भक्तियोग को अपनाया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं स्तुतिविद्या में अपने विकास का प्रधान श्रेय भक्तियोग को दिया है और भगवान् जिनेन्द्र के स्तवन को भव वन को भस्म करने वाली अग्नि बतलाया है।[2] आचार्य सिद्धसेन ने संस्कृत में ही बत्तीस बत्तीसियां रची थी जिनमें इक्कीस अभी उपलब्ध हैं। संस्कृत बत्तीसियों में शुरू के पांच और ग्यारहवीं स्तुति रूप है। प्रथम, पांच में भगवान् महावीर की स्तुति है। जबकि ग्यारहवीं

1- सन्मति वाणी, सन् 1979, मई, पृ0 21

2- स्तुतिविद्या, पद्य-16

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में किसी पराक्रमी राजा की स्तुति है।

जैन संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत स्तोत्र-काव्यों का महत्त्व दिखलाने के लिए उनके साथ मयूर, पुष्पदन्त, वाण प्रभृति कवियों की तरह चमत्कारपूर्ण आख्यानों का वर्णन किया गया है। आचार्य मानतुङ्गकृत भक्तामर-स्तोत्र (5वीं, 6वीं शती), कुमुदचन्द्रकृत कल्याणमन्दिर-स्तोत्र (लगभग 6वीं शती), वादिराजकृत एकीभावस्तोत्र (11वीं शती), धनन्जयकृत विषापहारस्तोत्र, (7वीं-8वीं शती) आदि स्तोत्रों के साथ ऐसे ही चमत्कारपूर्ण आख्यान जुड़े हुये हैं। इन चमत्कारपूर्ण आख्यानों में ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक स्तोत्र पाठ करने से आत्मशुद्धि उत्पन्न होती है और यही आत्मशुद्धि आत्मकल्याण के मार्ग में सहायक सिद्ध होती है।

जैनकवि मानतुङ्ग का भक्तामर स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत रहा है। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है कि इसके प्रत्येक अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र के अन्तर्गत अनेक समस्यापूर्तियाँ उपलब्ध हैं। धर्मसिंहकृत सरस्वती भक्तामर स्तोत्र तथा भावरत्नकृत नेमिभक्तामर-स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनकी रचना भक्तामर स्तोत्र पर से समस्या-पूर्ति प्रणाली द्वारा हुई है और इनमें क्रमशः सरस्वती व नेमि तीर्थङ्कर की स्तुति की गई है। भक्तामर स्तोत्र के पाठ से दिगम्बर मान्यतानुसार आचार्य मानतुङ्ग 48 तालों को तोड़कर 48 कोठों से बाहर आये थे, एकीभाव स्तोत्र के पाठ से उसके बनाने वाले वादिराज मुनि का कोढ़ दूर हुआ था और विषापहार स्तोत्र के पाठ से उसके रचयिता धनन्जय सेठ के लड़के का सर्पविष दूर हुआ था। इसी तरह के अन्य स्तोत्र भी चमत्कारपूर्ण प्रभाव से रचे गये हैं। इन स्तोत्रों का सम्बन्ध केवल चमत्कारपूर्ण आख्यान से ही नहीं, वरन् रचना-सौन्दर्य, भावपूर्ण शैली आदि से भी है। रचयिताओं ने आराध्य देव के गुणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का वर्णन करते हुए अपने हृदय की भक्ति बहुत ही अच्छे ढंग से इन स्तोत्रों में प्रकट की है। इसके बाद अनेक स्तोत्रों का निर्माण हुआ जो कि विविध प्रकार के भावों से परिपूर्ण है। इनमें निम्नलिखित संस्कृत स्तोत्र प्रमुख हैं। श्री पूज्यपाद देवनन्दिकृत सिद्धप्रिय स्तोत्र (6वीं शती), बप्पभट्टिकृत सरस्वती स्तोत्र (9वींशती), भूपालकृत जिनचतुर्विंशतिका, हेमचन्द्रकृत वीतरागस्तोत्र (13वीं शती), पं० आशाधरकृत सिद्धगुणस्तोत्र (13वीं शती), धर्मघोषकृत जिनस्तुति, जिनप्रभसूरिकृत चतुर्विंशति जिनस्तुति (14वीं शती), विद्यानन्दि पात्रकेशरीकृत पात्रकेशरीस्तोत्र (ईसा 6वीं शताब्दी), भट्टाकलंककृत अकलंक स्तोत्र (वि० की 7वीं श०) आदि प्रमुख हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3- संस्तव-स्तव और स्तवन

परिभाषा

सम्यक् प्रकार से जिनेन्द्र का स्तवन करना ही संस्तव कहलाता है। संस्तव में सम्यक् जुड़ा हुआ है अन्यथा वह स्तव और स्तवन ही है। वस्तुतः संस्तव-स्तव और स्तवन एक ही अर्थ के वाचक है और एक ही "स्तु" धातु से निष्पन्न हैं। संस्तव में सम् उपसर्ग जुड़ा है और स्तव से स्तवन शब्द भी बना है। अभिधान राजेन्द्रकोश में संस्तव के दो प्रकार बतलाये हैं यथा- सम्बन्धी संथव (सम्बन्धी संस्तव) और वयण संथव (वचन संस्तव)। सम्बन्धी संस्तव का अर्थ माता-पिता और सास-ससुर के साथ परिचय से है और वचन संस्तव का अर्थ श्लाघा रूप वचनों से है।[1] अमरकोश के अनुसार संस्तव का अर्थ केवल परिचय रूप ही है।[2] सर्वार्थसिद्धि में संस्तव का स्वरूप इस तरह से किया गया है-- "विद्यमान व अविद्यमान गुणों का वचन के द्वारा प्रकट करना संस्तव है।"[3] तत्त्वार्थभाष्याधिगम में केवल विद्यमान गुणों का उपाधि सहित अथवा उपाधि सहित जो कथन किया जाता है उसे संस्तव कहा है।"[4]

जैनभक्ति साहित्य में संस्तव शब्द का परिचय वाला अर्थ केवल चौबीस तीर्थङ्करों से सम्बन्धित है। किसी लौकिक पुरुष के साथ नहीं ।

1- (क) अभि०रा०को०, भा० 7, "संथव" शब्द

(ख) "दुविहा संथवो खलु, संबंधीवयणसंथवो चेव।
एक्केक्को वि य दुविहो, पुव्वं पच्छा य नायव्वो।।"
--देखिए, वही, भा० 7, गा०- 484

2- "संस्तवः स्यात् परिचयः।" -- अमरकोश, पंक्ति 2295

3- स०सि०, 7/23

4- तत्त्वार्थभाष्याधिगम, 7/18 तथा देखिए, त०वा०, 7/23, ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्तव का श्लाघावाला रूप तो सभी जगह आया है किन्तु उसमें भी जिनेन्द्र के अनन्तचतुष्टय की श्लाघा ही अभीष्ट है।[1] लौकिक निमित्त के हेतु सांसारिक जन की चाटुकारिता से यहां कोई प्रयोजन नहीं है।

ऋषभादि जिनेन्द्रों की नामनिरुक्ति और गुणानुवाद के साथ जो पूजा की जाती है तथा मन, वचन व काय से शुद्धिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया जाता है, उसे स्तव जानना चाहिए। यथा- चतुर्विंशति स्तव।[2] धवलापुराण के अनुसार भूत,भविष्यत और वर्तमान काल विषयक पन्चपरमेष्ठियों में भेद न करके द्रव्यार्थिक नय के अनुसार जो "अर्हन्तों को नमस्कार हो" "सिद्धों को नमस्कार हो" इत्यादि रूप से नमस्कार किया जाता है, इसका नाम स्तव है।"[3] अन्यत्र कहा गया है कि स्तव उसी शास्त्र को कहा जायेगा जिसमें आराध्य के सम्पूर्ण अङ्गों का संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन किया गया हो।"[4]

रचनाशैली की दृष्टि से एक, दो व तीन श्लोक रूप स्तुति के आगे चौथे अथवा मतान्तर के अनुसार आठवें श्लोक को आदि लेकर स्तव जानना चाहिए, जैसे-- देवेन्द्रस्तव।[5]

1-(क) मूलाचार, 1/24

(ख) षड् आवश्यक सूत्र, पृ० 148

(ग) तत्त्वसमुच्चय,पृ० 23

2- "उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ।।"
--मूलाचार, 1/25

3- धवलापुराण, पद्य-8

4- गोमट्टसार, कर्मकाण्ड, गा0-88

5- जैन लक्षणावली, भा0 3, पृ0 1178

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुति-स्तव एवं स्तोत्र में अन्तर

श्री शान्तिसूरि स्तव एवं स्तोत्र में अन्तर बतलाते हुए लिखते हैं कि "स्तव गम्भीर अर्थवाला और संस्कृत भाषा में निबद्ध किया जाता है तथा स्तोत्र की रचना विविध छन्दों के द्वारा प्राकृत भाषा में होती है।"[1] अर्थात् स्तव संस्कृत में और स्तोत्र की रचना प्राकृत में होनी चाहिए। यह अन्तर कुछ समय तक अनवरत रूप से चलता रहा, किन्तु परवर्ती समय में यह स्तव और स्तोत्र का भेद समाप्त हो गया। उदाहरणार्थ- आचार्य समन्तभद्र का वृहद्-स्वयम्भूस्तोत्र संस्कृत में है और धर्म विधान का "जस्सासीचवणचउन्तिमदिवं" वाला चतुर्विंशतिकास्तवन प्राकृत में है। कल्याणमन्दिरस्तोत्र संस्कृत में है और पञ्चकल्याण-स्तवनम्" प्राकृत में है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने स्तव और स्तुति में भी भेद बताया है। उनका कहना है कि -"स्तव में वस्तु के सर्वाङ्ग का और स्तुति में एक अङ्ग का अर्थ विस्तार या संक्षेप से रहता है।"[2] किन्तु यह अन्तर भी आगे चलकर विलुप्त हो गया और मनचाहे रूप से स्तव एवं स्तुति नाम दिये जाने लगे।

स्तव के भेद

जैन साहित्य में स्तव के छः भेद किये गये हैं। यथा- नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव।[3] तीर्थङ्करों का

1- चे०वं०म०, गा०- 84।

2- गोम्मट्टसार, कर्मकाण्ड, गा०- 88

3- "णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो थवह्यि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होइ ।।"
— मूलाचार, 7/4।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का एक हजार आठ नामों से स्तवन करना नामस्तव, तीर्थङ्कर के बिम्ब और मूर्ति के स्तवन को स्थापनास्तव, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के शरीर स्तवन को द्रव्यस्तव, जैन महापुरुषों तथा तीर्थङ्करों से सम्बन्धित स्थानों के स्तवन को क्षेत्र स्तव, पञ्चकल्याणक या किसी महत्वपूर्ण घटना-समय के स्तवन को कालस्तव और हृदय में जिनेन्द्र का ध्यान कर उनके प्रति बने प्रशंसामय भावों को भावस्तव कहते हैं।[1]

स्तव साहित्य

जैनस्तव साहित्य में श्री विजयसिंहाचार्य के "नेमिस्तवन" को सबसे अधिक प्राचीन माना गया है।[2] अन्य जैनस्तव साहित्य में सिद्धसेन दिवाकर का पार्श्वनाथ-स्तवन, हरिभद्रसूरि का वीरस्तव, बप्पभट्टसूरीकृत साधारणजिनस्तवन, हेमचन्द्राचार्य का नेमिस्तवन, पं० आशाधर का सहस्रनाम-स्तवन, जिनकीर्तिका षड्भाषामयस्तव तथा श्री जिनप्रभसूरि का पार्श्वनाथस्तव आदि का उल्लेख मिलता है।[3]

1-(क) मूलाचार, 7/41

(ख) अनगारधर्मामृत, अ0 8

(ग) भ०आ०, 7/41

2- जैनस्तोत्रसंदोह, भा० 1, पृ० 9-10

3- देखिए, वही, प्रस्तावना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनस्तव साहित्य का विकास

जैनस्तव साहित्य बहुत ही विशाल एवं विविध भाषाओं में रचे गये हैं। जैन भक्त कवियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाओं में स्तव लिखकर अपने आराध्य के गुणों का स्तवन किया है। संस्कृत जैनस्तव में सर्वप्राचीन स्तव श्री विजयसिंहाचार्य द्वारा रचित नेमिस्तवन है। श्री विजयसिंहाचार्य आचार्य श्री खपटगुरु के वंशज माने जाते हैं और श्री खपटगुरु का समय भगवान् महावीर के मोक्ष जाने के 484 वर्ष के बाद का माना गया है।[1] तदनन्तर श्री सिद्धसेन दिवाकर ने पार्श्वनाथस्तवन एवं शक्रस्तव की रचना की। इनका समय विक्रम की पांचवी शताब्दी है।

विक्रम की आठवीं शताब्दी में श्री हरिभद्रसूरि रचित वीरस्तव और बप्पभट्टसूरिकृत साधारणजिनस्तवन भी बहुत प्रसिद्ध है। इसके बाद अनेक जैनस्तव विभिन्न भाषाओं में रचे गये हैं। जिनमें कुछ उल्लेखनीय स्तव इस प्रकार से हैं-- कवि धनपाल रचित वीरस्तव, श्री जिनदत्तसूरिकृत अजितशान्तिस्तव, श्री हेमचन्द्राचार्यकृत नेमिस्तवन, पं० आशाधरकृत सहस्रनामस्तवन, श्री रामचन्द्रसूरिकृत साधारणजिनस्तवन , मुनि सुव्रतदेवस्तव तथा नेमिजिनस्तवन, श्री जिनप्रभसूरिकृत पार्श्वनाथस्तव, श्री सोमसुन्दरसूरि द्वारा रचित पार्श्वनाथजिनस्तवन, श्री नन्दिसेनरचित अजितशान्तिस्तव, आदि प्रमुख हैं।

जैन कवियों में कुछ कवि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। इन कवियों ने अपने स्तवों को विभिन्न भाषाओं में लिखा है। ऐसे स्तवों की विशेषता यह है कि इनके पद्य एक दूसरे से भिन्न-भिन्न भाषाओं में रचे गये हैं। श्री धर्मवर्धनकृत षड्भाषामयपार्श्वनाथस्तवन (12वीं शती ई०) और श्री जिनकीर्ति द्वारा रचित षड्भाषामयस्तव (15वीं शती ई०) आदि स्तव उल्लेखनीय है। ये स्तव संस्कृत, अपभ्रंश, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची भाषाओं में रचे गये हैं।[2]

1- जैनस्तोत्रसंदोह, भा० 1, पृ० 9-10

2- देखिए, वही, भा० 1, प्रस्तावना, पृ०-7-14 एवं पृ० 55-59

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4- उपासना

उपासना का अर्थ

उपासना शब्द "उप" उपसर्ग पूर्वक "आस् उपवेशने" धातु और भाव अर्थ में "युच्" (अन्) प्रत्यय से बना है। सामान्यत: उपासना शब्द का अर्थ आराधना, पूजा, परिचर्या आदि से लिया जाता है किन्तु इसका व्युत्पत्त्यर्थ है- समीप या पास में बैठना- "उप समीपे आसना स्थिति: उपासना।" इसप्रकार उपास्यदेव के प्रति तैल धारावत् दीर्घकाल पर्यन्त चित्त की एकात्मता को उपासना कहते हैं। मन का आत्मा की ओर बारम्बार गतिशील होना (लक्ष्य का स्मरण करना) अथवा लक्ष्य में स्थिर होना ही उपासना है।[1]

महत्त्व

पूजा, स्तुति-स्तोत्र, स्तवादि की तरह उपासना को भी भक्ति का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। पूजा, स्तुति-स्तोत्र एवं स्तवादि की अपेक्षा उपासना भजनीय को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त समीप रहने वाला साधन है। जैन उपासना के मूल में जिनभक्ति का स्थान सर्वोपरि है। "जिनभक्ति" जैनोपासना का मेरुदण्ड है। इसके द्वारा शुद्धात्मवृत्ति का उदय होता है। वीतरागी सिद्ध महात्माओं के गुणों पर प्रेमानुराग रखते हुए आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होना ही जिनभक्ति है। इन सिद्धात्माओं को तीर्थङ्कर, अर्हन्त, आप्त, स्वयंभू आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। साधना द्वारा कर्ममल को जला डालने के कारण वे जिन कहलाते हैं।[2]

1- श्रमण, दिसम्बर, सन् 1971, पृ० 13

2- कल्याण, उपासनाङ्क, पृ० 27

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5- वन्दना

परिभाषा

जैन आचार्यों ने वन्दना को मुनियों के छः आवश्यककर्म के अन्तर्गत रखा है। तपगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और अर्हन्त तथा सिद्ध प्रतिमा को आदर सम्मान के साथ, मन, वचन, काय की शुद्धता से शिर झुकाकर प्रणाम करना वन्दना है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र[2] एवं ईर्यापथप्रतिक्रमण[3] में गुरु को श्रद्धा अर्पित करना एवं सुस्ती, लापरवाही या विपरीतपन से गुरु की उपेक्षा न करना ही वन्दना कहा है। श्री शान्तिसूरि ने गुरु वन्दना के अतिरिक्त अर्हन्त वन्दना तथा चैत्य वन्दना का भी उल्लेख किया है।[4]

वन्दना तथा पूजा में अन्तर

वन्दना एवं पूजा में शैलीगत भेद माना जा सकता है। भावगत अन्तर नहीं। क्योंकि वन्दना और पूजा में श्रद्धा का भाव समान होता है। आचार्य शान्तिसूरि ने अभिवादन को वन्दना और माल्यार्चन को पूजा कहा है।[5]

1- "अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूणरादीणं ।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो।।"
-- मूलाचार, 1/25

2- उ०सू०, अ० 29, पृ० 159

3- ईर्यापथप्रतिक्रमण, श्रमण, वर्ष 1, अङ्क 7, पृ० 35

4- चै०वं०म०, गा०- 10,12,13,14

5- "वंदणमभिवायणयं, पसत्थमण-वयण-कायवावारो ।
मल्लाइ अच्चणं पूयणं ति वत्थेहिं सक्कारो ।।"
-- देखिए, वही, गा०-398

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्व

जैनभक्ति में आराध्य के गुणों की उपासना की गई है। सद्गुणी के चरणों में शिर झुकाने को वह उपादेय मानता है और गुणहीन व्यक्ति के चरणों में झुकाने को हेय। असंयमी, पतित व दुराचारी को वन्दन करने का अर्थ है, असंयम को प्रोत्साहन देना। भद्रबाहु स्वामी ने कहा भी है- "यदि अवन्दनीय व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में और भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।[1]

जैनभक्ति साहित्य में जिसका जीवन त्याग-वैराग्य से ओतप्रोत है, निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से जिसका जीवन पवित्र व निर्मल है, उसे ही सद्गुरु कहा जाता है। उसी की भक्तिभाव से विभोर होकर वन्दना करनी चाहिए। जो वन्दना भय, लज्जा, प्रलोभन या स्वार्थवश से की जाती है वह सच्चे अर्थ में वन्दना नहीं है। वन्दना तो आत्मशुद्धि का मार्ग है। अतः वन्दना में किसी स्वार्थ की गन्ध नहीं होनी चाहिए।

वन्दना में मन का अहंकार गलना चाहिए। गुणीजनों के प्रति श्रद्धा-भाव पैदा होना चाहिए। जैसे- घड़े में पानी भरना है, उसे कुएं में भी उतारा। किन्तु जब तक घड़ा झुकता नहीं है तब तक उसमें पानी की एक बूंद नहीं आ सकती, उसी प्रकार यदि गुरु से ज्ञान ग्रहण करना है तो पहले झुकना होगा। अतः गुणीजन के पास वन्दनार्थ जाना है तो नम्रता और विनय का होना आवश्यक है।[2]

1- वंदनपंचाशक, गा० 165-168

2- जीवनसाधना, पृ० 173

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6- विनय

परिभाषा

"विनय" शब्द वि और नय के संयोग से बना है। जिसका अर्थ है विशेषरूप से झुकना। आराध्य की महानता से प्रभावित हो भक्त का झुक-झुक जाना ही विनय है। पूज्य पुरुषों में आदर का भाव रखना यथायोग्य उनका आदर-सत्कार करना तथा हित की प्राप्ति एवं अहित के विनाश के लिए उनके अङ्गों (उपायों) के माहात्म्य के उत्पादन में प्रयत्नशील रहना भी विनय कहा जाता है।[1]

भेद

आचार्य उमास्वाति ने विनय के चार प्रकार किये हैं। यथा- ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय।[2] बहुत आदर के साथ ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है।[3] शंकादि दोषों से रहित, तत्त्वार्थश्रद्धान को दर्शनविनय कहा है।[4] परमागम में पांच प्रकार का चारित्र और इसके जो अधिकारी या धारण करने वाले वर्णित किये गये हैं, उनके आदर-सत्कार को चारित्रविनय[5] तथा अपने से बड़ों की मन, वचन, काय से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में अभ्यर्थना करना उपचारविनय कहा गया है।[6]

1- (क) स०सि०, 9/20,23
   (ख) जैनलक्षणावली, भा० 3, पृ० 1004

2- "ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।" --त०सू०,9/23

3- त०वा०, 9/23

4- स०सि०, 9/23

5- त०वा०, 9/23

6- देखिए, वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनय का महत्त्व

जैन एवं बौद्ध धर्म दोनों ही परम्पराओं में विनय शब्द का प्रयोग मिलता है। बौद्धसाहित्य में सम्पूर्ण आचारधर्म के अर्थ में "विनय" शब्द का प्रयोग हुआ है। विनयपिटक में इसी बात का निरूपण किया गया है। जैनशास्त्र उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र एवं ज्ञाताधर्मकथा में विस्तार से विनय की महत्ता प्रतिपादित की गई है।[1] विनय को धर्म का व जिनशासन का मूल कहा गया है।[2] आचार्य वसुनन्दि ने कहा है कि विनय से पुरुष शशाङ्क के समान उज्ज्वल यशःसमूह से दिगन्त को धवलित करता है। विनय से वह सर्वत्र सबका प्रिय होता है और उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं। संसार में देवेन्द्र, चक्रवर्ती और माण्डलिक राजा आदि को जो सुख प्राप्त है, वह सब विनय का ही फल है।"[3]

जैनेतर साहित्य में विनय का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है। कन्फ्यूशियस ने कहा है--

'Humilty is the Solid Foundation of all the Virtues.'

"अर्थात् विनम्रता सभी सद्गुणों की ठोस नींव है।"[4]

हिन्दी साहित्य में भी विनय को महानता एवं उच्चता का द्योतक बताया गया है। जैसा कि कहा गया है--

---

1- जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा, पृ0 632

2- देखिए, वही, पृ0 632

3- व0श्रा0, गा0- 332-335

4- श्रमणोपासक, जुलाई, 1978, पृ0 23

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"झुके आम, इमली झुके, झुके दाड़िम दाख।
एरण्ड विचारा क्या झुके, जिसकी ओछी जात।।"[1]

विनय को विकास का चिह्न एवं उच्चता का प्रतीक कहा गया है यथा—

"नल की और नल नीर की, गति एक ही होय।
जेतो नीचो ह्वे चले, तेतो ऊंचो होय ।।"[2]

अंग्रेजी विचारक आगस्टाइन ने भी विनय का महत्व प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं कि "अभिमान से देवता दानव बनता है और विनय से मानव देवता।"[3] अतएव हित चाहने वाला प्राणी आत्मा को विनय में स्थापित करें। विनय को जैनधर्म में अन्तरङ्ग तप माना गया है जिससे इसके महत्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। विनय के बिना भक्ति आदि निस्सार है।

1- प्रज्ञा, सन् 1978, अंक 1, पृ0 232

2- अनेकान्त, वर्ष 13, अंक 22, पृ0 29

3- निकाय, अंक 10, वर्ष 11, पृ0 59

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7- मङ्गल

परिभाषा

मङ्गल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में लिखा है--"मं" नाम मल का है। जो पापरूप मल को नष्ट करता है उसे मंगल कहते हैं अथवा द्रव्य व भावमल के भेदभूत जो अनेक प्रकार का ज्ञानावरणादिरूप मल है, उसे जो गलाता है- नष्ट करता है- उसे मंगल कहा जाता है। अथवा मंग नाम सुख का है उसको जो लाता है- प्राप्त कराता है- वह मंगल कहलाता है।[1]

गमनार्थक मङ्ग धातु से अल् प्रत्यय होकर मङ्गल शब्द बना है। इसका अर्थ है जिसके द्वारा हित जाना जाता है या सिद्ध किया जाता है, वह मङ्गल है। अथवा व्याकरण प्रसिद्ध अभीष्ट प्रकृति-प्रत्यय रूप निपातन क्रिया से मंगल शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार यथायोग्य आयोजन करना चाहिए। "मं" का संस्कृत रूप "माम्" होता है, तदनुसार जो मुझे संसार से छुड़ाता है- मुक्ति प्राप्त कराता है- उसे मंगल जानना चाहिए। अथवा "मं" का अर्थ निषेधवाचक और "गल" का अर्थ विघ्न होता है। तदनुसार तात्पर्य यह है कि शास्त्र परिसमाप्ति में विघ्न न आये इसलिए मंगल किया जाता है।[2]

मङ्गल के भेद

जैन साहित्य के अन्तर्गत मङ्गल के छः भेद बतलाये गये हैं। यथा-

1- (क) "गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ।।"
"अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा ।।"
--तिलोयपण्णत्ति, प्रथमभाग, 1/9-14

2- (क) "मलं वा श्रेयोमार्गसंसिद्धौ विघ्ननिमित्तं पापं गालयतीति मंगलं तदिति, तदेतदनुकूलं नः, परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य परममङ्गलत्वप्रतिज्ञानात्।"
- आप्तपरीक्षा, पृ0 10

(ख) धनञ्जय नाममाला, श्लोक- 198

(ग) आप्तपरीक्षा, पृ0 9

(घ) जैन लक्षणावली, पृ0 902

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाममङ्गल, स्थापना-मङ्गल, द्रव्यमङ्गल, क्षेत्रमङ्गल, कालमङ्गल और भाव मङ्गल।[1] पन्चपरमेष्ठियों के नाम लेने को नाममङ्गल कहते हैं। तदाकार (मूर्ति बिम्ब) और अतदाकार (भावरूप से) दोनों ही रूपों में स्थापित किये गये भगवान् की स्तुति आदि करना स्थापना मङ्गल है। तीर्थ क्षेत्रों की भक्ति को क्षेत्र मंगल कहते हैं। मूर्तिबिम्ब की स्थापना कर स्तुति करना द्रव्य मङ्गल है। भगवान् के विविध कार्यों से पवित्र हुए काल की स्मृति में पूजा आदि करना और महोत्सव मनाना काल मंगल है। कर्ममल से रहित हुई शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करना भावमङ्गल है।[2]

इन सभी मङ्गलों में भाव मङ्गल को श्रेष्ठ और श्रेयस्कर कहा गया है।[3]

पर्यायवाची नाम

मङ्गल शब्द के अनेक समानार्थक शब्द भी जैन साहित्य में मिलते हैं। जैसे- पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य, श्रेयस, भावुक, भविक और भव्य इत्यादिक पर्यायवाची नाम मङ्गल के कहे गये हैं।[4]

1- तिलोयपण्णत्ति, भा0 1, गा0 1/18

2- देखिए, वही, गा0 1/19-27

3- देखिए, वही

4- धनञ्जय नाममाला, श्लोक- 198

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मङ्गल का महत्त्व तथा प्रयोजन

मङ्गल का प्रयोजन एवं महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि शास्त्र के आदि में मङ्गल के पढ़ने से शिष्य शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मङ्गल के उच्चारण से विद्या की निर्विघ्न प्राप्ति होती है और अन्त में मङ्गल के पढ़ने से विद्या का फल मिलता है।[1] आचार्य विद्यानन्द ने मङ्गल के प्रयोजनों में शिष्टाचार परिपालन, नास्तिकता की समाप्ति और विघ्न की समाप्ति को गिनाया है।[2] नास्तिकता समाप्ति का अर्थ है- बड़ों के आशीर्वाद में नास्तिकताजन्य अविश्वास की समाप्ति।

प्रमुख- मङ्गल

जैनों का प्राचीनतम मंगलाचरण पुष्पदन्त भूतवलि के षट्खण्डागम में मिलता है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ निम्नलिखित मंगलाचरण से हुआ है---

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं ।।"[3]

आचार्य कुन्दकुन्द (ईसा की प्रथम शती) ने अपने मङ्गलाचरण में सिद्ध की स्तुति की है। यथा-

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समय पाहुड-मिणमो सुयकेवली भणियम् ।।"[4]

1- तिलोयपण्णत्ति, भा0 प्रथम, 1/29-31

2- आप्तपरीक्षा, पृ0 10-11

3- षट्खण्डागम, मंगलाचरण

4- स0सा0, गा0-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य योगीन्दुदेव ने भी परमात्मप्रकाश का आरम्भ सिद्धों की स्तुति से किया है।[1] आचार्य पूज्यपाद (वि० छठीं श०पू०) ने तत्त्वार्थसूत्र का प्रारम्भ एक प्रसिद्ध मंगलाचरण से किया है--

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।"[2]

1- "णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि ।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ।।"
-- पर०प्र०, गा०-1

2- त०सू०, मङ्गलाचरण, पद्य-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8- महोत्सव

प्राचीन जैन ग्रन्थों में कुछ लौकिक देवी देवताओं की पूजा का उल्लेख आया है। उनकी पूजा के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष मेले लगते थे, जिन्हें "मह" कहा जाता था। जैन-ग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा में निम्नलिखित देवताओं के "मह" (मेले-उत्सव) का उल्लेख है- इन्द्रमह, स्कन्दमह, रूद्रयात्रा, शिवयात्रा, यक्षयात्रा एवं कार्तिकेयमह आदि।[1] भगवतीसूत्र में वासुदेवमह एवं स्तूपमह का भी नाम आया है।[2] उत्तराध्ययनसूत्र में "दासीमह" नामक मह का उल्लेख मिलता है।[3] ये सभी मह वर्ष में एक बार लगते थे। यथा- इन्द्रमह आषाढ़ की पूर्णिमा को, स्कन्दमह आश्विन पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसी प्रकार अन्य "मह" भी प्रतिवर्ष किसी न किसी रूप में किसी न किसी निश्चित तिथि को मनाये जाते थे।[4]

जैन साहित्य में तीर्थङ्करों के जन्मोत्सव मानाने का वर्णन मिलता है।[5] जन्मोत्सव के अवसर पर इन्द्र नाटक का भी आयोजन करता है। उनमें भगवान् के गर्भावतरण और जन्म सम्बन्धी कथानकों का अभिनय होता है।[6] जैन साहित्य में रथयात्रा महोत्सव का उल्लेख भी विस्तार के साथ आया है। यह महोत्सव आज भी विभिन्न स्थलों पर विस्तार एवं उत्साह के साथ मनाया जाता है।[7]

1- ज्ञाताधर्मकथा, 1/25

2- भगवतीसूत्र, 3/1 तथा 9/33

3- उ0सू0, सूत्र-8

4- प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ0 42

5- पउमचरिय, पद्य- 113

6- आदिपुराण, भा0-1, 14/103

7- बृहत्कथाकोश, भूमिका, पृ0 122

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन महोत्सवों के अतिरिक्त जैन साहित्य में जैन पर्वों का विवेचन भी हुआ है। वैसे तो अनेक पर्वों का उल्लेख आया है किन्तु कुछ प्रमुख पर्व विशेष महत्व रखते हैं। जैसे- दशलक्षण या पर्युषण पर्व, अष्टान्हिका पर्व, महावीर जयन्ती, श्रुतपन्चमी, दीपावली एवं रक्षाबन्धन।

जैनपरम्परा में सबसे अधिक पवित्र पर्व पर्युषण या दशलक्षण पर्व को माना गया है। यह पर्व सोल्लासपूर्वक दश दिनों तक मनाया जाता है। इस पर्व में क्रमशः दश धर्मों का विवेचन किया जाता है। ये दश धर्म इसप्रकार से हैं-- उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, संयम, शौच, तप, त्याग, अकिन्चन और ब्रह्मचर्य। दशलक्षण पर्व के अन्तिम दिन क्षमावाणी पर्व मनाया जाता है। क्षमावाणी पर्व पर सभी लोग परोक्ष एवं अपरोक्ष में की गई त्रुटियों के लिए एक दूसरे से क्षमा याचना करते हैं। पर्युषण पर्व में आत्मशुद्धि के लिए श्रद्धालु यथायोग्य-यथाशक्ति व्रत, उपवास आदि करते हैं। यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला पन्चमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है।

जैनपरम्परा का अन्य महत्त्वपूर्ण पर्व अष्टान्हिका पर्व है। यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्त के आठ दिनों में प्रतिवर्ष मनाया जाता है। जैन मान्यता के अनुसार आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप माना गया है।[2] इस द्वीप में 52 जिनालय बने हैं जिनमें देवगण आकर अष्टान्हिका पर्व में पूजा पाठ करते हैं। मनुष्य का चूंकि वहां पहुंचना असम्भव है इसलिए वे उक्त पर्व के दिनों में यहीं पर पूजा-पाठ करते हैं।

जैनधर्म के उत्थान में अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का विशेष योगदान होने से उनकी जन्मतिथि उत्साहपूर्वक चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को

1- जैनधर्म, पृ० 329

2- त०सू०, 8/4,5

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनायी जाती है। इस दिन सभी धर्मप्रेमी बन्धु अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यक्रमों को सम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने के अनन्तर उनकी सर्वप्रथम धर्म देशना राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर होने के उपलक्ष्य में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को प्रतिवर्ष वीरशासन जयन्ती भी उत्साहपूर्वक मनायी जाती है।

जैनशासन में जैन शास्त्रों की पूजा भी की जाती है। ज्येष्ठ शुक्ला पन्चमी के दिन श्रुतपन्चमी का पर्व मनाया जाता है। इस पर्व पर शास्त्रों की पूजा, उनकी सुरक्षा आदि की जाती है।

जैन लोग दीपावली का पर्व भी विशेष उत्साह के साथ धूमधाम से मनाते हैं। दीपावली की प्रभातवेला में अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर पावापुरी नामक स्थान से निर्वाण को प्राप्त हुये थे, इसलिए दीपावली पर्व को निर्वाण पर्व के रूप में मनाया जाता है। दीपावली की प्रभातवेला में सभी जैन मन्दिरों में महावीर निर्वाण की स्मृति में बड़ा उत्सव मनाते हैं और नैवेद्य से भगवान् महावीर की पूजा-वन्दना करते हैं।

जैनसाहित्य के अनुसार मुनि विष्णुकुमार ने राजा बलि के अत्याचार से सात सौ मुनियों की रक्षा की थी। मुनियों को राजा बलि के बन्धन से स्वतन्त्र किया था। इसी उपलक्ष में प्रतिवर्ष रक्षाबन्धन पर्व जैन लोग बड़े उत्साह के साथ मनाते हैं।

उपरोक्त पर्वों के अतिरिक्त प्रत्येक तीर्थङ्कर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण के दिन कल्याणक महोत्सव-जिसे पन्चकल्याणकमहोत्सव भी कहते हैं-- जगह-जगह मनाये जाते हैं। जैसे- आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की निर्वाणतिथि मनाना आदि।[1]

1- जैनसाहित्य का इतिहास, भा० 6, पृष्ठ 365

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

9- सामायिक

जैनभक्ति साहित्य में "षट् आवश्यक कर्म" प्रत्येक जैनी के लिए नित्य-कार्य के रूप में प्रतिपादित हैं। सामायिक उनमें प्रथम है। श्रमण दिनरात के भीतर जिस विधि को अवश्यकरणीय समझकर किया करते हैं, उसका नाम "आवश्यक" है।[1] षट् आवश्यक कर्म इसप्रकार से कहे गये हैं-- सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।[2] प्रत्येक श्रावक तथा संसार का अन्त चाहनेवाले अन्य गृहस्थों को यथाशक्ति षट् आवश्यक कर्म का पालन करना चाहिए।

"आवश्यक" जैन साधना का मूल प्राण है। वह जीवनशुद्धि और दोष परिमार्जन का महासूत्र है। जैसे- वैदिक परम्परा में सन्ध्या, बौद्ध परम्परा में उपासना, ईसाई धर्म में प्रार्थना, इस्लामधर्म में नमाज है वैसे ही जैनधर्म में दोषशुद्धि और गुणवृद्धि हेतु "आवश्यक" है। ब्राह्मणों के लिए प्रतिदिन पांच महायज्ञों के अनुष्ठान की व्यवस्था है।[3] जैनियों में भी षट् आवश्यक विशेषों का वर्णन हुआ है। वैदिक परम्परा में सन्ध्या तथा अग्निहोत्र नित्यकर्म के रूप में बतलाये गये हैं। सन्ध्या में सूर्य अथवा परमात्मा का ध्यान और बुद्धि के परिष्कार की प्रार्थना की जाती है। होम में देवताओं को उद्देश्य करके त्याग किया जाता है। जैन परम्परा में देवताओं का स्थान महापुरुषों ने ले

1- अनुयोगसूत्र, सूत्र- 28, गा0-2, पृ0 31

2- (क) अमितगति श्रावकाचार, 8/29, 71 तथा 9/1, 12/40

(ख) मूलाचार, 1/22

3- मनुसंहिता, 3/70

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया। चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना में उन्हीं को स्मरण किया जाता है। यहां स्तवन के स्थान पर प्रत्याख्यान है।[1] साधक अनुष्ठान के अन्त में कुछ न कुछ त्याग करता है। चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमण में सम्भावित स्खलनाओं के लिए पश्चात्ताप और भविष्य में सावधान रहने का निश्चय किया जाता है।[2] पञ्चम आवश्यक कायोत्सर्ग में चौबीस तीर्थङ्करों का ध्यान बताया गया है।[3] यह प्राय: प्रत्येक अनुष्ठान के साथ किया जाता है। कहीं पहले और कहीं पीछे। इसके द्वारा साधक उन महापुरुषों से प्रेरणा प्राप्त करता है जो साधना द्वारा कर्ममल को नष्ट कर सफलता प्राप्त कर चुके हैं। वैदिक परम्परा में वह प्रेरणा परमात्मा से प्राप्त की जाती है।

प्रथम आवश्यक "सामायिक" प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व भूमिका है। वैदिक परम्परा में स्नान द्वारा शरीर शुद्धि की जाती है। सामायिक चित्तशुद्धि है। जैनधर्म में सामायिक की बड़ी प्रतिष्ठा है। अणुव्रती गृहस्थ के चार शिक्षाव्रतों में और महाव्रती साधु के पांच चारित्रों में सामायिक का समावेश किया गया है। रागद्वेष की निवृत्तिपूर्वक समस्त आवश्यक कर्त्तव्यों में समताभाव का अवलम्बन सामायिक है। आचार्य अमितगति ने सामायिक के स्वरूप का अच्छा प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं--

"दु:खे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भुवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धे समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ।।"[4]

1- अमितगतिश्रावकाचार, 8/29,71

2- देखिए, वही, 9/1

3- देखिए, वही, 12/40

4- सामायिक पाठ, पद्य-3

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् हे देव! सम्पूर्ण ममत्व बुद्धि से रहित मेरा मन सुख-दुःख, वैरी-बन्धु, संयोग-वियोग, भुवन-वन आदि विषमताओं में समत्व अनुभव करें।"

मूलाचार के अन्तर्गत भी सामायिक का वर्णन किया गया है। मूलाचार के अनुसार-"जीवन और मरण, लाभ तथा हानि, संयोग एवं वियोग, शत्रु और मित्र तथा सुख एवं दुःख इनमें समान हर्ष-विषाद से रहित रहना सामायिक है।"[1] इसी प्रकार का प्रतिपादन आचार्य कुन्दकुन्द ने भी किया है।[2]

जैनधर्म के अन्तर्गत सामायिक को उत्कृष्ट साधना एवं समस्त आध्यात्मिक साधना का आधार मना गया है। जैसे- मधुमक्खी के छत्ते में जब तक रानीमक्खी रहती है तब तक हजारों मक्षिकाएं रहती हैं। उसके चले जाने पर पीछे कोई मक्खी नहीं रहती। वैसे ही समभाव की रानीमक्खी रहने पर सभी सद्गुणरूपी मक्षिकाएं आ जाती हैं।[3]

1- "जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य ।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ।।"

--मूलाचार, 1/23

2- नि0सा0, गा0- 125-133

3- जैन आगम साहित्य-मनन और मीमांसा, पृ0 382

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह से इस अध्याय के प्रथम परिच्छेद में जैन आचार्यों ने वीतरागी जिनेन्द्र की भक्ति करने के लिए नौ साधन बतलाये हैं। भक्ति की पूर्णता के लिए पूजा, स्तुति, स्तोत्र, वन्दना आदि नौ साधनों का होना आवश्यक है।

जिन नौ साधनों का उल्लेख आया है उनमें कुछ तो एक ही जैसे लगते हैं। उनमें केवल शब्द भेद जैसा प्रतीत होता है। वस्तुत: संस्तव ास्तव आदि एक ही जैसे हैं। प्रारम्भ में उनमें कुछ अन्तर अवश्य रहा है। उसका कारण है। शब्द भेद से अर्थभेद होने वाले नय (समाभिरूढ़ नय) का सिद्धान्त। अन्यथा ये सभी साधन आराध्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के प्रकार मात्र हैं। साधक किसी भी पद्धति से अपने आराध्य की उपासना करके अपने अन्तरङ्ग के प्रेम को प्रदर्शित कर सकता है। यहाँ वस्तुत: भाव की प्रधानता है। अन्य सब गौण हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय परिच्छेद

भक्ति के प्रकार

जैनभक्ति के प्रकारों (भेदों) को चार प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।--

1- उत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति के भेद

उत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति (सम्यग्दर्शन) के दो भेद कहे गये हैं। यथा- निसर्गज (बिना बाह्य निमित्त के जन्य) और अधिगमज (बाह्य निमित्त से जन्य)।[1]

2- आराध्य की दृष्टि से भक्ति के भेद

आराध्य की दृष्टि से भक्ति के भेदों को दस भेदों में विभाजित किया गया है। ये दस भक्तियां इसप्रकार हैं-- सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगि (गणधर भक्ति), आचार्य भक्ति, पञ्चपरमेष्ठीभक्ति, तीर्थङ्कर भक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति एवं निर्वाणभक्ति। इन भक्तियों के अतिरिक्त नन्दीश्वरभक्ति तथा चैत्यभक्ति का भी उल्लेख है।[2]

3- पद्धति-भेद की दृष्टि से भक्ति का विभाजन

यह विभाजन दो तरह से हुआ है। प्रथम विभाजन में मुनि की आहार विधि के अन्तर्गत नवधा भक्ति है।[3] द्वितीय विभाजन में, वैदिक नवधा

1- "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" -- त०सू०, 1/3

2- (क) प्राकृतदशभक्तिसंग्रह, शोलापुर से प्रकाशित

(ख) संस्कृतदशभक्तियां, आचार्य पूज्यपादकृत तथा देखिए, संस्कृत टीका, आ० प्रभाचन्द्रकृत

3- त०सू०, 7/39

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-5

भक्तियों का जैनसाहित्य में स्वतंत्र अस्तित्व है।[1]

4- आश्रयभेद से भक्ति का विभाजन

आराध्य के आश्रय भेद से भक्ति के छः भेद किये गये हैं-- नामभक्ति, स्थापनाभक्ति, द्रव्यभक्ति, भावभक्ति, क्षेत्रभक्ति और कालभक्ति।[2]

इन सभी प्रकारों का क्रमशः विवेचन निम्नप्रकार है--

1- उत्पत्ति की अपेक्षा से भक्ति के भेद

उत्पत्ति की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र में भक्ति (सम्यग्दर्शन) के दो प्रकार बतलाये गये हैं। यथा-- निसर्गज और अधिगमज।[3] जो सम्यग्दर्शन किसी भी बाह्य निमित्त या गुरु आदि के उपदेश के बिना जीव को स्वाभाविक रूप में, कर्म क्षय होने पर स्वतः ही प्रकट होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।[4] निसर्गज सम्यग्दर्शन में किसी भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, आत्मा में सहजभाव से जो स्व-स्वरूप की ज्योति प्रकट होती है, सत्य-दृष्टि का प्रकाश जगमगाने लगता है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन (भक्ति) की ज्योति है। इस ज्योति का उपादान एवं निमित्तकारण स्वयं आत्मा ही होता है।

जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ पत्थर बिना किसी विशेष प्रयास के स्वाभाविक रूप से गोल-मटोल होकर एक विशेष आकृति को प्राप्त

1- (क) कल्याणमन्दिर स्तोत्र, पद्य- 7,42

(ख) भक्तामरस्तोत्र, पद्य-16,9,10,6

(ग) एकीभावस्तोत्र, पद्य-16,20

2- कल्याणभक्ति अंक, पृ0 572

3- "तन्निसर्गादधिगमाद्वा।" -- त0सू0, 1/3

4-(क) त0वा0, 1/3

(ख) स0सि0, 1/3/14-15

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर लेता है, उसी प्रकार संसार में भटकते हुए संसाराभिमुख होकर दौड़ते हुए प्राणी के कदाचित् अनायास ही कर्मावरण के अल्प हो जाने पर सहजभाव से यथार्थता का बोध होने पर संसार को छोड़कर मोक्ष की ओर अग्रसर होने लगता है, आत्मा की इसी स्थिति को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जो सम्यग्दर्शन किसी बाह्य निमित्त से होता है, फिर वह बाह्य निमित्त चाहे गुरु आदि के उपदेश प्रेरणा या मार्ग दर्शन का हो, चाहे शास्त्र स्वाध्याय का हो, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।[1]

अर्थात् पर संयोग या बाह्य निमित्त से जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यद्यपि अन्तरङ्ग कारण तो जैसे निसर्गज सम्यग्दर्शन में दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम एवं उपशम भाव आवश्यक है, वैसे ही अधिगमज सम्यग्दर्शन में भी आवश्यक है, तथापि अधिगमज सम्यग्दर्शन के लिए बाह्य निमित्त भी अपेक्षित होता है।

1-(क) त०वा०, 1/3

(ख) स०सि०, 1/3/14-15

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2- आराध्य की दृष्टि से भक्ति के भेद

1- सिद्धभक्ति

सिद्ध की परिभाषा

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यचारित्र सहित, अष्टकर्मकुल से रहित, सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से संयुक्त सिद्ध होते हैं। नय, संयम, चारित्र, भूत, वर्तमान, तथा भविष्यत् काल में आत्मस्वभाव में स्थित, मोक्ष को प्राप्त जीव वस्तुतः सिद्ध कहलाते हैं।[1] सिद्ध निष्कल निराकार होते हैं।[2] उनमें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस् और कार्मण शारीरिक व्यवस्था नहीं होती है। वे निराकार परमात्मा कहलाते हैं।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने सिद्ध का स्वरूप इस तरह से बतलाया है- "जो आठ कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर आठ गुणों से सम्पन्न होते हुए लोक के अग्रभाग (सिद्धालय) में स्थित हो चुके हैं व सदा वहीं उसी प्रकार से स्थित रहने वाले हैं उन्हें सिद्ध कहा जाता है।[4]

1- "अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वंदिमो णिच्चं।।"
-- दशभक्ति, प्राकृतसिद्धभक्ति, गा0-1

2- जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा0 1, पृ0 500

3- "औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि।"--त0सू0, 2/36

4- "णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।
-- नि0सा0, गा0-72

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध जीवों को जो सुख मिलता है वह अनिर्वचनीय होता है। उसी को आचार्य कुन्दकुन्द ने अतिशय, अव्याबाध, अनन्त, अनुपम, इन्द्रियविषयातीत, अप्राप्त और अच्यवन सुख कहा है।[1] सिद्धों का सुख शाश्वत होता है, क्षणिक नहीं। श्री योगीन्दुदेव ने उसको "सासय-सुक्ख-सहाउ" लिखा है।[2] सिद्ध का तो स्वभाव ही परमानन्द रूप है, फिर सुख शाश्वत क्यों नहीं होगा।[3] दुःखों के कारणभूत संसार के नष्ट हो जाने से वह सुख इतना अधिक होता है कि कोई उसको नाप नहीं सकता।[4] आचार्य पूज्यपाद ने उसको अतिशयवत्, वीतबाध, विशाल, वृद्धिह्रासव्यपेत, विषयविरहित, अन्यद्रव्यानपेक्ष, निरुपम, अमित, शाश्वत, उत्कृष्ट, अनन्तसार और परम कहा है।[5] इसमें "अन्यद्रव्यानपेक्ष" का

1- "अइसयमव्वाबाहं सोक्खमणंतं अणोवमं परमं ।
इंदियविसयातीदं अप्पत्तं अच्चवं च ते पत्ता।।"
-- प्राकृतसिद्धभक्ति, दशभक्ति, पृ0 56

2- "अण्णु वि बन्धु वि तिहुयणहं सासय-सुक्ख-सहाउ।
तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ।।"
— पर0प्र0, 2/202

3- "णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद- सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ।।"
-- देखिए, वही, 1/17

4- "क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वरमरणजरानिष्टयोगप्रमोह-
व्यापत्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता।।"
-- सिद्धभक्ति, दशभक्त्यादिसंग्रह, पद्य-6

5- "आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं ।
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ।।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालं ।
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ।।"
--देखिए, वही, पद्य-7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ है कि सिद्ध-सुख स्वसापेक्ष है, उसमें बाह्य-पदार्थों की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।[1]

सिद्ध तथा अर्हन्त में अन्तर

जो आठ कर्मों का नाश करके सिद्धालय को प्राप्त करता है वह सिद्ध और जो चार घातिया कर्मों का क्षय करता है, उसे अर्हन्त कहते हैं।[2] प्रत्येक जीव सिद्ध बन सकता है किन्तु अर्हन्त पद प्राप्त करने के लिए तीर्थङ्करत्व नामकर्म का उदय होना आवश्यक है।[3] अर्हन्त को अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक संसार में रुकना पड़ता है। उन्हें समवशरण की विभूति प्राप्त होती है।[4] वे जगत के कल्याणार्थ विश्व को अपना उपदेश देते हैं, जबकि

1- "नार्थः क्षुत्तृड्विनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या,
नास्पृष्टैर्गन्धमाल्यैर्न हि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ।
आतङ्कार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद्,
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते ।।"
-- सिद्धभक्ति, दशभक्त्यादिसंग्रह, पद्य-8

2- (क) "घणघाइकम्ममहणा तिहुवणवरभव्वकमलमत्तंडा।
अरिहा अणंतणाणे अणुवमसोक्खा जयंतु जए ।।"
-- तिलोयपण्णत्ति, भा0-1, पद्य-2

(ख) "कम्म-चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ।"--पर0प्र0, 2/195

3- "तीर्थङ्करनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि। "
--त0वा0, 6/24

4- "अर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदार- सभे रराज।"
--स्व0स्तो0, 16/3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध सदा अपने में ही लीन रहते हैं।

पण्डित आशाधर जी ने कहा है कि सिद्ध अर्हन्तों के लिए पूजनीय है। शिव अर्थात् सिद्ध का कीर्त्तन करने ही के कारण उन्हें शिवकीर्त्तन कहा जाता है।[1] षट्खण्डागम[2] एवं आवश्यकनिर्युक्ति[3] में कहा गया है कि समवशरण में विराजकर अर्हन्त आयु के क्षय होने तक विश्व को उपदेश देते हैं। वे उनके उपदेश ही श्रुत साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनसे समाज को सदैव लाभ होता है। इसीलिए अनादि महामन्त्र "णमो अरिहंताणं" में सर्वप्रथम अर्हन्तों को नमस्कार किया गया है।

सिद्धभक्ति का महत्त्व

जैन पूजा साहित्य में सिद्ध की महिमा का प्रतिपादन हुआ है। उनकी वन्दना में अनेक काव्य रचे गये हैं। इन काव्यों में सिद्धों की भक्ति करने से परमशुद्धि तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख हुआ है।[4] केवलज्ञान के

1- "शिवानां सिद्धानां वा कीर्त्तनं यस्य सः शिवकीर्त्तनः। दीक्षावसरे "नमः सिद्धेभ्यः" इत्युच्चारणत्वात्।" -- जिनसहस्रनाम, 7/95

2- षट्खण्डागम, पृ० 53,54

3- "अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेण अरहाई।
न वि कोइ य परिसाए, पणमित्ता पणमई रन्नो।।
अत्थं भासइ अरिहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ।।
-- आवश्यकनिर्युक्ति, पद्य-92,1022

4- "जरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स ।
देंतु वरणाणलाहं बुहयणपरिपत्थणं परमसुद्धं ।।
-- सिद्धभक्ति, प्राकृतदशभक्ति, पृ० 58

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ ही अनन्तसुख की भी प्राप्ति होती है।[1] भक्त अथवा पूजक सिद्धभक्ति में इतना तन्मय हो जाता है कि वह उनके गुणों का गान करता हुआ स्वयं उनके निकट पहुंचने की कामना कर उठता है।[2]

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि सिद्धों की वन्दना करने वाला उनके अनन्त गुणों को सहज में ही पा लेता है।[3] सिद्धों का भक्त, भक्तिमात्र से ही उस पद को भी प्राप्त करता है, जिस पर वे स्वयं प्रतिष्ठित हैं।[4]

आचार्य समन्तभद्र ने उत्प्रेक्षा के द्वारा कहा है कि मानो भवसमुद्र में डूबे हुए भव्यों का उद्धार करने के लिए ही सिद्ध लोकाग्रशिखर पर विराजे हैं।[5] वे मानते हैं कि बहुत बड़ा पापी भी सिद्धों की भक्ति कर अपने पापों से छुटकारा पा सकता है।[6]

1- "अइभत्तिसंपउत्तो जो वंदइ लहु लहइ परमसुहं।"

-- सिद्धभक्ति, प्राकृतदशभक्ति, पृ058

2- "देखिए, वही, पृ0 66

3- "तान्सर्वान्नौम्यनन्तान्निजिगमिषुररं तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम्।"

--सिद्धभक्ति, दशभक्त्यादिसंग्रह, पद्य-9

4- "अतिभक्तिसंप्रयुक्तो यो वन्दते स लघु लभते परमसुखम् ।"

-- देखिए वही, पद्य-अन्तिम

5- "सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम् ।
प्रोद्धर्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यताम् ।।"

--स्तुतिविद्या, पद्य-80

6- "यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये ।
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ।।"

--देखिए, वही, पद्य-116

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य योगीन्दुदेव ने उन सिद्धों को नमस्कार किया है, जो परम समाधि को धारण करने वाले, कल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय है।[1] वे सिद्ध की महिमा प्रतिपादित करते हुए पुनः कहते हैं कि सिद्ध यद्यपि तीनों लोकों से वजनदार है फिर भी संसार समुद्र में डूबते नहीं।[2] तात्पर्य यह है कि सिद्ध, गुरु अर्थात् सबसे बड़े हैं। संसाररूपी समुद्र को पार करके ही वे मोक्ष में विराजे हैं।

श्री शान्तिसूरि ने सिद्धों को शिर झुकाना सर्वोत्तम भाव-नमस्कार कहा है।[3]

2- श्रुतभक्ति

"श्रुत" की परिभाषा

श्रुत का अर्थ है- सुना हुआ।[4] वे समग्र शास्त्र वस्तुतः श्रुत कहलाते हैं। जिनमें भगवान् की दिव्य ध्वनि व्यञ्जित हैं। बारह अङ्गस्वरूप प्रवचन में

1- "ते वंदउं सिरि-सिद्ध-गण होसहिं जे वि अणंत ।
सिवमय- णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ।।" --परप्र०, 1/2

2- "णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति।"
-- देखिए, वही, 1/4

3- "णणु सिद्धमेव भगवओ, एसो सव्वोत्तमो नमोक्कारो ।
आणाणुपालणत्थं, भावनमोक्काररूव त्ति ।।
--चेइयवंदणमहाभासं, पद्य- 75।

4-(क) स०सि०, 1/9
(ख) सर्वा०धर्म०, 1/9

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिपादित अर्थ का अनुष्ठान करना-तदनुसार आचरण करना-श्रुतभक्ति या प्रवचन भक्ति है।[1] श्रुतभक्ति को प्रवचन भक्ति भी कहा जा सकता है। आचार्य सोमदेव ने श्रुतभक्ति को सामायिक कहा है और श्रुतभक्ति की उपासना अष्ट द्रव्य से करने की स्वीकृति दी है।[2] वर्तमान जैन पूजा की परम्परा में देव और गुरु के साथ श्रुत की भी अष्ट द्रव्यों से पूजा की जाती है।

श्रुत के भेद

श्रुत के दो भेद है- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। शास्त्रों की गणना द्रव्यश्रुत में की जाती है। जैन साहित्य में शास्त्र पूजन को अचित्त द्रव्यपूजन की कोटि में रखकर तथा भावश्रुत को ज्ञान कहकर क्रमश: शास्त्रपूजन एवं ज्ञानपूजन का समर्थन किया है।[3]

श्रुतभक्ति का माहात्म्य

अर्हन्त, आचार्य और उपाध्याय भक्ति के साथ ही बहुश्रुतभक्ति से भी तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव होता है।[4] आत्मा ज्ञानरूप है और श्रुत भी एक ज्ञान है, अत: श्रुतज्ञान भी आत्मा को पूर्णरूप से जानने में समर्थ है।[5]

1- (क) "तम्हि (पवयणम्मि) भत्तीतत्थ पदुप्पादिदत्थाणुट्ठाणं।"
--धवलापुराण, गा0-8

(ख) "प्रवचने रत्नत्रयादिप्रतिपादकलक्षणेमन:शुद्धियुक्तोऽनुराग: प्रवचनभक्ति:।"
-- त0वृ0 , 6/24

2- यशस्तिलकचम्पू, पृ0 401

3- व0श्रा0, गा0- 392,450

4- त0सू0, 6/24

5- "जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ।।"
-- स0सा0, गा0- 10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुतज्ञान एवं केवलज्ञान में मात्र परोक्ष और प्रत्यक्षकृत भेद माना गया है।[1] सभी पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा से दोनों समान हैं।[2]

जैनश्रुत साहित्य के अन्तर्गत श्रुतदेवी की महिमा का उल्लेख, श्रुतधरों की वन्दना एवं शास्त्रपूजन का महत्त्व भी विस्तृतरूप में मिलता है। जैसे-सरस्वती आदि में पत्नी का रूपक बांधते हुए कहा है- "भगवान् ऋषभदेव की तीन पत्नियां थीं- सरस्वती, कीर्ति और लक्ष्मी। लक्ष्मी में उनका प्रेम मन्द हो गया था। उन्हें तो सरस्वती एवं अनन्तकाल तक रहने वाली कीर्ति ही अधिक प्रिय थी।[3]

जैनपूजा साहित्य में सरस्वती पूजन का अतिशय महत्त्व है। यह तीर्थङ्कर की ध्वनि है जिसे गणधरों द्वारा श्रवण कर शब्दायित किया गया है। इसकी पूजा करने से जन्म, जरा तथा मृत्यु की व्यथा से मुक्ति मिला करती है।[4] सरस्वती पूजन से केवलज्ञान की उपलब्धि होती है। फलस्वरूप अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य जैसी अमोघ शक्तियां प्राप्त होती हैं।[5] जिनवाणी की कृपा से लोक परलोक की प्रभुता प्रभावित हुआ करती है। इस जगद्वन्द्य जिनवाणी को नित्य नमस्कार करना वस्तुत: श्रुतभक्ति है।[6]

1- "आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत्।" — त०सू०, 1/11-12

2- जिनसहस्रनाम, 8/74

3- "सरस्वती प्रियास्यासीत् कीर्तिश्चाकल्पवर्तिनी ।
लक्ष्मीं तडिल्लतालोलां मन्दप्रेम्णैव सोऽवहत् ।।"
— महापुराण, भा०1, पद्य-15/48

4- श्री सरस्वती पूजन, जयमाला, पृ० 10

5- प्राकृत श्रुतभक्ति, गा०- 30

6- श्री सरस्वतीपूजन, द्यानतराय, जयमाला, पृ० 10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् महावीर के उपरान्त हुए तीन केवली और पांच श्रुतकेवली श्रुतधर कहलाते हैं। भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी भी केवली ही थे। चेइयवंदणमहाभास के आरम्भ में श्रुतधरों को नमस्कार किया गया है। यथा- "जिनके महाहृदरूपी मुख से द्वादशाङ्गी महानदी उत्पन्न हुई है उन गिरि जैसे गणधरों को मैं नमस्कार करता हूं।[1] श्री जिनसेनाचार्य ने श्रुत परायण गौतम गणधर से याचना की है कि हम सब अज्ञानान्धकार को भेदकर परम धाम में प्रविष्ट हो जायें।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द[3] तथा आचार्य पूज्यपाद[4] ने श्रुत के बारह अङ्गों की स्तुति की है।

श्रुतभक्ति का फल

श्रुतभक्ति के प्रयोजन एवं फल को बताते हुए श्री उमास्वामी ने लिखा है कि "तत्त्वार्थसूत्र" को एक बार पढ़ने से ही पूरे दिन के उपवास का फल

1- "जम्मुहमहद्दहाओ, दुवालसंगी महानई बूढा।
तेगणहरकुलगिरिणो, सव्वे वंदामि भावेण ।।" -- चे०वं०म०, गा०-4

2- "पारेतम: परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयम् ।
तद्द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि।।"--महापुराण,भा० 1,पद्य-2/62

3- "सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं ।
काऊणं णमुक्कारं भत्तीए णमामि अंगाइं ।। --प्राकृतश्रुतभक्ति, गा०-1

4- "परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते ।
सार्द्धं चूलिकयाऽपि च पञ्चविधं दृष्टिवादं च ।।
--संस्कृतश्रुतभक्ति, पद्य- 9

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलता है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द[2] तथा योगीन्दुदेव[3] का मन्तव्य है कि श्रुत की अर्चना, पूजा, वन्दना और नमस्कार करने से सभी दुःखों और कर्मों का क्षय हो जाता है। साथ ही बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण तथा जिनगुणसम्पत्ति भी प्राप्त होती है। "सर्वार्थसिद्धि" को भक्तिपूर्वक सुनने और पढ़ने से परमसिद्धि प्राप्त होती है, फिर देवेन्द्र और चक्रवर्ती के सुख का कहना ही क्या है।[4]

1- "दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ।।
-- त०सू०, पद्य-2

2- (क) प्राकृतश्रुतभक्ति, पृ० 127
(ख) "जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चओ णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ।।
-- स०सा०, गा० - 415

3- "जे परमप्प-पयासयहं अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहं तिहुयण-णाहं हवंति ।।"
-- पर०प्र०, गा०- 2/206

4- "तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या। हस्तेकृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वर सुखेषु किमस्ति वाच्यम् ।।"
--स०सि०, अन्तिम पद्य, पृ० 364

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3- चारित्रभक्ति

चारित्र की परिभाषा

जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाये या आचरण करना मात्र चारित्र कहलाता है।[1] इसका तात्पर्य हुआ कि आचरण का ही दूसरा नाम चारित्र है। चारित्र अच्छा और बुरा दो प्रकार का होता है। चारित्र-भक्ति का सम्बन्ध अच्छे चारित्र से है, जैन साहित्य में उसे ही सम्यक्-चारित्र कहा गया है।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है--"संसार बन्ध के कारणों को दूर करने की अभिलाषा करने वाले ज्ञानी पुरुष, कर्मों की निमित्तभूत क्रिया से विरत हो जाते हैं, इसी को सम्यक्चारित्र कहते हैं। चारित्र अज्ञानपूर्वक न हो, अतः सम्यक् विशेषण जोड़ा गया है।"[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड में लिखा है, "जो जाने सो ज्ञान और जो देखे सो दर्शन तथा दोनों के समायोग को चारित्र कहते हैं।"[3] यहां दर्शन का अर्थ सम्यग्दर्शन से है।

आचार्य पूज्यपाद की परिभाषा का आचार्य भट्टाकलंक[4] तथा

1- "चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् ।"-- स०सि०, 1/1

2- "संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक् चारित्रम् ।" -- स०सि०, 1/1

3- "जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छयस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ।।"
--चारित्रपाहुड, अष्टपाहुड, गा०-3

4- "संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रिया-विशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम् ।"
-- त०वा०, 1/1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री श्रुतसागरसूरि[1] ने भी समर्थन किया है।

चारित्रभक्ति का महत्त्व

जैन साहित्य एवं जैन पूजा काव्य की परम्परा में चारित्रभक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है--"पूर्ण चारित्र पालकर मोक्ष गये हुए सिद्धों की वंदना से चारित्रगत विशृंखलता दूर होती है और मोक्ष सुख प्राप्त होता है।[2]

आचार्य समन्तभद्र का कथन है कि "सम्यक् चारित्र के द्वारा जिन्होंने आर्हन्त्यपद प्राप्त किया है वे त्रिलोक की पूजा के अतिशय स्थान है।"[3]

आचार्य पूज्यपाद ने आचार के पांच भेद किये हैं-- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार। पांचों ही की वन्दना की है और पांच प्रकार के आचार को धारण करने वाले मुनियों को भी नमस्कार किया है।[4] उन्होंने कहा- "पांच प्रकार का आचार संसार-समुद्र से

1- "संसारहेतुभूतक्रियानिवृत्युद्यतस्य तत्त्वज्ञानवत: पुरुषस्य कर्मादानकारण-क्रियोपरमणमज्ञानपूर्वकाचरणरहितं सम्यक्चारित्रम्।" --त०वृ०, 1/1

2- (क) जह रायेण दोसेण मोहेणाणादरेण वा।
वंदित्ता सव्वसिद्धाणं संजदा सा मुमुक्खुणा ।।"
संजदेण मए सम्मं सव्वसंजमभाविणा ।
सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुहं ।।"
--प्राकृत चारित्रभक्ति, दशभक्ति, गा०-9-10

(ख) देखिए, वही, गा० 3-4

3- "स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्ययोदुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदाऽऽर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजाऽतिशयाऽऽस्पदं पदम्।।"
--स्व०स्तो०, 23/3

4- दशभक्त्यादिसंग्रह, पद्य-2-8

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार करने वाला तीर्थ है, उत्कृष्ट मंगलरूप है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ।"[1] श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक चारित्र, चतुर्गतियों में व्याप्त विषरूपी दु:खाग्नि को प्रशान्त करने के लिए सुधा सरोवरी के समान सुखद होता है। कषायशान्ति के लिए उत्तम चारित्र-भक्ति परमौषधि है। इसी को तीर्थङ्कर धारण कर कल्याण को प्राप्त होते हैं।[2]

चारित्र की महिमा का वर्णन करना, चारित्र-भक्ति ही है। आचार्य सोमदेव ने संयम, दम और ध्यानादि से युक्त चारित्र को नमस्कार करते हुए लिखा है कि चारित्र तो "सम्यक्त्वरत्नाङ्कुर" है, उसके बिना मुनियों के बड़े-बड़े तप भी व्यर्थ हैं।[3] अन्यत्र उन्होंने चारित्र को चिन्तामणि के समान मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला बतलाया है। चारित्र से विविध स्वर्गापवर्ग प्राप्त होते हैं।[4]

1- "आचारं सहपञ्चभेदमुदितं तीर्थं परं मंगलम् ।" --

--दशभक्त्यादिसंग्रह, पद्य-8

2- श्री रत्नत्रयपूजा, द्यानतराय, जयमाला तथा देखिए, सम्यक्चारित्रपूजा, जयमाला

3- "ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात् स्वस्य खेदावहं,
धत्ते साधु न तत्फल-श्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुर:।
कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमय-
स्तस्मै स्वच्चरिताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नम: ।।"

— यशस्तिलकचम्पू, पद्य- 109

4- "यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसति: सौरूप्यलाभाश्रयो:,
श्रीपाणिग्रहकौतुकं कुलबलारोग्यागमे संगम: ।
यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं,
तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये ।।"

-- देखिए, वही, पद्य- 106

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन चारित्र साहित्य

जैनभक्ति आचार्यों ने अनेक जैन चरित व चारित्र काव्यों की रचना कर, आराध्य के गुणगान के साथ ही साथ उनके आराधकों के भी गुणों और चरित्रों की महिमा का गान किया है। अपभ्रंश के चरित्रकाव्यों में णेमिणाहचरिउ (अमरकीर्तिगणिकृत), बाहुबलिचरिउ (धनपाल) और सनत्कुमारचरित्र (हरिभद्रसूरि) आदि प्रमुख हैं।

प्राकृत के चारित्रकाव्यों में पउमचरियं (विमलसूरिकृत), समरादित्य-कथा (हरिभद्रकृत), वसुदेवहिण्डी (संघदासजिनसेन) आदि प्रमुख हैं।

जैनसंस्कृत चारित्रकाव्यों में, पद्मचरित्र (रविषेणरचित), हरिवंशपुराण (जिनसेन), महापुराण (जिनसेन गुणभद्र), त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित (हेमचन्द्र), पार्श्वनाथचरित्र (वादिराज), कुमारपालचरित्र (जयसिंहसूरि), हम्मीरकाव्य (नयचन्द्र), श्रीपालचरित्र (सत्यराज), बृहत्कथाकोश (हरिषेण), प्रबन्धकोश (राजशेखर), प्रभावकचरित्र (प्रभाचन्द्र), यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव), जीवन्धरचम्पू (हरिश्चन्द्र), क्षत्रचूड़ामणि (वादीभसिंह), वराङ्गचरित्र (जटासिंहनन्दि), गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह), जगडूचरित्र (सर्वानन्द), चतुर्विंशतिजिनचरित (अमरचन्द), धर्मशर्माभ्युदय (हरिश्चन्द्र) एवं पाण्डवचरित्र (देवप्रभकृत) आदि उल्लेखनीय चरित्र काव्य प्रमुख है।[1]

1- भारतीय संस्कृति में जैनवाङ्मय का योगदान, पृ0 415, 416

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4- योगिभक्ति

"योगि" की परिभाषा

अष्टाङ्गयोग का धारी वस्तुतः योगी कहा जाता है।[1] योग शब्द "युज्" धातु से बना है एवं "युज्" धातु समाधि अर्थ में आती है।[2] पतञ्जलि के योगसूत्र में भी योग शब्द "युज्" धातु से बना है और का चिह्न को सूक्ष्म ब्रह्म में एकाग्र कर देना ही योग कहा गया है।[3] आचार्य भट्टाकलंक ने काय, वचन और मन के परिस्पन्द को योग कहा है।[4] योगी शब्द के अनेक पर्यायवाची नाम भी मिलते हैं। जैसे- ध्यानी, ऋषि, मुनि, यति, भिक्षु, तापस, संशित, व्रती, तपस्वी, संयमी, वर्णी और साधु।[5]

योगिभक्ति

योगि संज्ञा जैनधर्म में गणधरों के लिए प्रयुक्त है। बुद्धि, ऋद्धिधारी होने से उनमें संसार संरक्षण शक्ति विद्यमान रहती है, फलस्वरूप उनकी पूजा अर्चा किये जाने का उल्लेख महापुराण में उपलब्ध है।[6] आचार्य कुन्दकुन्द ने

1- "योगोध्यानसामग्री अष्टाङ्गानि विद्यन्ते यस्य स योगी।"
-- जिनसहस्रनाम, 6/72

2- "युज समाधौ"-धनञ्जयनाममाला, पृ० 3

3- "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" —पातञ्जलयोगदर्शन, 1/2

4- "कायवाङ्मनःकर्मयोगः।" --त०वा०, 6/1

5- "ऋषिर्मुनिर्यतिर्भिक्षुस्तापसः संशितो व्रती।
तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः ।।"
-- धनञ्जयनाममाला, पद्य-3

6- (क) "महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोऽस्तु ते ।
नमो महात्मने तुभ्यं नमः स्तात्ते महर्द्धये ।।"--महापुराण,भा०-1,2/

(ख) देखिए, वही, भा०-1, 23/194

(ग) देखिए, वही, भा०-1, 2/74-75

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगियों को प्राय: अनगार शब्द से अभिहित किया है। गुणधर अनगारों की वन्दना उन्होंने "अंजलिमुकुलितहस्त" होकर, हृदय से की है। उन्होंने योगियों को शिवपथ का नायक कहकर अनेक जगहों पर नमस्कार किया है।[1] एकदूसरे स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द ने, ज्ञानोदक से सुगन्धित, राग-द्वेष से रहित और शिवपथ के नायक ऐसे योगियों को नमस्कार किया है।[2] इन्हीं आचार्य ने तिरुकुरल में लिखा है, "यदि तुम इन्द्रियों को जीतने वाले महर्षियों की शक्ति को मापना चाहते हो, तो देवों के सम्राट इन्द्र की ओर देखो, जो उन महर्षियों की शक्ति में सदा तल्लीन रहता है।[3]

आचार्य समन्तभद्र योगी मुनिसुव्रत की वन्दना करते हुए लिखते हैं-- "आप अनुपम योग बल से आठों पाप मलरूप कलंकों को, भस्मीभूत करते हुए, संसार में न पाये जाने वाले सौख्य को प्राप्त हुए हैं। आप मेरी संसार शान्ति के लिए भी निमित्तभूत होवें।[4] आचार्य पूज्यपाद ने योगियों के द्वारा किये

1- "थोस्सामि गुणधराणं अणयाराणं गुणेहि तच्चेहिं ।
अंजलिमउलियहत्थो अभिवंदंतो सविभवेण ।।"
-- प्राकृत योगिभक्ति, गा०- 1

2- "णाणोदयाहिसित्ते सीलगुणविहूसिये तवसुगन्धे ।
ववगयरायसुदढे सिवगइ पहणायगे वन्दे ।।"
-- प्रा०यो०भ०, दशभक्ति, गा०-14

3- "विजिताक्ष महर्षीणां शक्तिरत्रास्ति कीदृशी ।
ज्ञातुमिच्छसि चेत्तर्हि पश्य भवतं सुराधिपम् ।।"
--मुनिमहात्म्यम् संस्कृत, कुरलकाव्य, पद्य-5

4- "दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान भवतु ममापि भवोपशान्तये।।"
-- स्व०स्तो०, 20/5

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गये विविध तपों का विस्तृत वर्णन किया है।[1] पण्डित आशाधर ने भगवान् जिनेन्द्र को योगीन्द्र कहा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं--"हे भगवन्! आप योगीन्द्र हैं, क्योंकि आप योगियों अर्थात् ध्यानियों के इन्द्र हैं। आप योगज्ञ हैं क्योंकि आप योग अर्थात् धर्म्य और शुक्ल दो ध्यानों का अनुभव करते हैं।[2]

जैन पूजा काव्य परम्परा में मुनियों तीर्थङ्करों पर आधृत अनेक पूजा कृतियों में उपसर्ग जीतने के प्रसंगों में योगिभक्ति के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। मुनि विष्णुकुमार महामुनि पूजा में हुए उपसर्ग पर विजय वर्णन का विशद विवेचन हुआ है। अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा मुनि विष्णुकुमार ने राजा बलि के अत्याचार से पीड़ित मुनियों की रक्षा की और उन्हें आहार सुलभ कराया।[3]

1- "इति योगत्रयधारिण: सकलतपशालिन: प्रवृद्धपुण्यकाया: ।
परमानन्दसुखैषिण: समाधिमग्र्यं दिशन्तु नो भदन्ता: ।।"
-- संस्कृत योगिभक्ति, द०भ०सं०, पद्य-8

2- "योगिनां ध्यानिनामिन्द्र: स्वामी। योगं धर्म्यशुक्लध्यानद्वयं जानात्यनुभवतीति।"
--जिनसहस्रनाम, 6/75,82

3- श्री विष्णुकुमार महामुनिपूजा, रघुसुतकृत, जयमाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग साहित्य

जैन मुनि चर्या में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान और योग ये तप के अन्तर्गत माने जाते हैं। संस्कृत में ध्यान और योग विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध मिलते हैं। जैसे- आचार्य पूज्यपादकृत इष्टोपदेश और समाधिशतक, आचार्यहरिभद्रकृत षोडशक, योगबिन्दु तथा योगदृष्टिसमुच्चय, गुणभद्रद्वारा रचित आत्मानुशासन, शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव और पण्डित आशाधरकृत अध्यात्म-रहस्य उल्लेखनीय हैं।[1]

5- आचार्य-भक्ति

"आचार्य" की परिभाषा

"आचार्य" शब्द का अर्थ है- चलना अथवा आचरण करना।[2] आचार्य वह है जो मन्त्र की व्याख्या करने वाला, यज्ञ में यजमान को आज्ञा देने वाला और व्रतों का धारण करने वाला हो।[3] अभिधान राजेन्द्रकोश में आचार्य को नमस्कार करने से विद्या और मन्त्र की सिद्धि स्वीकार की गई है।[4]

1- महावीरजयन्ती स्मारिका, सन् 1979, पृ० 10

2- "चरेराङि॰ चागुरौ।" --काशिकावृत्ति, 4/2/14

3- "मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य आदेष्टा त्वध्वरे व्रती।"--अमरकोश, पंक्ति-1360

4- "भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।
आयरिअ नमुक्कारेण विज्जमंता य सिज्झंति ॥"
--अभि०रा०को०, भा०-5, गा०-1097

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य की परिभाषा बतलाते हुए कहा गया है--"जो ज्ञानमय है, संयम में शुद्ध है, सुवीतरागी है और साधारण मुनियों को कर्मों का क्षय करने वाली शुद्ध शिक्षा-दीक्षा देते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी जिनेन्द्रदेव के साक्षात् प्रतिबिम्ब अर्थात् सदृश हैं।[1] आचार्य पूज्यपाद ने, जो स्वयं व्रतों का आचरण करते हैं और दूसरों से करवाते हैं, उनको ही आचार्य कहा है।[2] आचार्य शब्द के अनेक पर्यायवाची नामों का उल्लेख भी हुआ है। जैसे- वाग्मी, मेधावी, विद्वान्, प्राज्ञ:, पण्डित, सूरि और नैयायिक आदि।[3]

आचार्यभक्ति का माहात्म्य

आचार्य में अनुराग अर्थात् उनके गुणों में अनुराग करना वस्तुत: आचार्यभक्ति है।[4] आचार्यभक्ति में भक्त के द्वारा उन्हें उपकरण दान के साथ ही शुद्धभावनापूर्वक उनके पैरों का पूजन किया जाता है।[5] जैनपरम्परा में

1- "जिणबिम्बणाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।।"--अष्टपाहुड,बोधपाहुड,गा0-16

2- "तत्र आचरन्ति तस्माद् व्रतानि इति आचार्य:।" --स0सि0, 9/24

3- "प्रशस्ता वागस्तीत्यस्य वाग्मी, प्रजानातीति प्राज्ञ:,मेधास्त्यस्य मेधावी, वेत्ति जानातीति विद्वान्, अभिगतं रूपं (विद्या) येनाभिरूप:, विविधं चष्टे विचक्षण:, पण्डा (बुद्धि:) सञ्जाताऽस्येति पण्डित:, सूते बुद्धिं सूरि:, न्याये विचारे नियुक्तो नैयायिक: ।"
-- धनञ्जयनाममाला, भाष्य, पद्य- 111

4- "अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्ति:।"
-- स0सि0, 6/24

5- "आचार्याणामपूर्वोपकरणदानंसम्मुखगमनं सम्भ्रमविधानं पादपूजनं दानसम्मानादि विधानं मन:शुद्धियुक्तोऽनुरागश्चाचार्यभक्तिरुच्यते।"
-- त0वृ0, 6/24

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हीं आचार्यों को प्रणाम किया गया है जो उत्तम क्षमा, प्रसन्नभाव, वीतरागता और तेजस्विता से युक्त हैं तथा जो गगन की भाँति निर्लिप्त और सागर की भाँति गम्भीर हैं।[1] आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत आचार्य भक्ति के अन्तर्गत आचार्य के विविध गुणों का विशद वर्णन किया है। ऐसे गुणों से युक्त आचार्यों की भक्ति में उनकी पूर्ण आस्था है।[2] आचार्य यतिवृषभ[3] एवं श्री शिवार्यकोटि[4] ने विशुद्धभाव से आचार्यों की तीव्रभक्ति करने की बात कही है।

जैनशास्त्रों के अन्तर्गतअनेक भक्त विद्वानों ने अपने पूर्व आचार्यों का स्मरण कर उनके गुणों का कथन ग्रन्थ आरम्भ होने के पूर्व किया है। जैसे-आचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण के आरम्भ में, समन्तभद्र, सिद्धसेन, भट्टाकलंक, पात्रकेशरी, प्रभाचन्द्र आदि आचार्यों की वन्दना मंगल प्राप्ति के लिए की

1- "उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ।।
गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्वमुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ।।" --प्रा०आ०भ०, गा०-5-6

2- "ईदृशगुणसम्पन्नान्युष्मान् भक्त्या विशालया स्थिरयोगान्।
विधिनानारतमग्र्यान्मुकुलीकृतहस्तकमलशोभितशिरसा ।।
अभिनौमि सकलकलुषप्रभवोदयजन्मजरामरणबन्धनमुक्तान् ।
शिवमचलमनघमक्षयमव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ।।
-- सं०आ०भ०, दशभक्त्यादिसंग्रह, पद-10,।।

3- "पंचमहव्वयतुंगा तक्कालिय स पर समय सुदधारा ।
णाणा गुणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ।।"
-- तिलोयपण्णत्ति, भा०-1, गा०-3

4- "अरहंतसिद्धचेदिय पवयण आयरिय सव्वसाधूसु ।
तिव्वं करेदि भत्ती, णिव्विदिगिच्छेण भावेण।।"
-- भ०आ० , गा०- 743

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है।[1] श्री वादिराजसूरि ने भी "पार्श्वनाथचारित्र" के आरम्भ में समन्तभद्र, अकलंक आदि अनेक आचार्यों की वन्दना भक्ति के साथ की है।[2]

आचार्यभक्ति के फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तथा तीर्थङ्कर नामकर्म का आस्रव होता है।[3]

आचार्य-भक्ति का फल

आचार्यों की भक्ति करने से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है, "मुझ अज्ञानी के द्वारा आपके गुणों के समूह की जो स्तुति की गयी है, वह गुरुभक्ति से युक्त मुझको बोधि-लाभ देवे।"[4] अन्यत्र आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि आचार्यों की भक्ति करने वाला, अष्ट-कर्मों का नाश करके, संसार-समुद्र से पार हो जाता है।[5]

1- महापुराण, भा0 1, पद्य- 1/41-59

2- पार्श्वनाथचरित्र, 1/16-30

3- (क) "तुम्हं गुणगणसंथुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो ।
देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं ।।"
--प्रा0आ0भ0, गा0- 10

(ख) त0सू0, 9/24

4- प्राकृत आचार्यभक्ति, दशभक्ति, गा0-10

5- "गुरुभक्तिसंयमाभ्यां च तरन्ति संसार सागरं घोरम् ।
छिन्दन्ति अष्टकर्माणि जन्म-मरणे न प्राप्नुवन्ति ।।"
-- देखिए, वही, क्षेपक श्लोक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य की भक्ति करने वाला तीर्थङ्कर के पद को भी प्राप्त कर सकता है।[1] श्री जिनदत्तसूरि के स्मरण में, स्थान-स्थान पर "दादावाणियों" की रचना हुई है। उनमें सूरिजी की पादुकाएं और मूर्तियां स्थापित की गयी हैं। वे भक्तों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए साक्षात् कल्पतरु के समान हैं।[2] इन महर्षियों के गुण स्तवन को पढ़ने और सुनने मात्र से ही सिद्धि-सुख प्राप्त होता है।[3]

6- पञ्चपरमेष्ठि-भक्ति

पञ्चपरमेष्ठि-परिभाषा

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्वसाधुजनों का समीकरण वस्तुत: पञ्चपरमेष्ठि कहा जाता है। साधु से अर्हन्त तक उत्तरोत्तर गुणों की अभिवृद्धि के कारण यह क्रम किया गया है। यद्यपि सिद्ध श्रेष्ठ हैं तथापि उनके द्वारा लोकोपकार की सम्भावना नहीं रहती है इसलिए अर्हन्त का स्थान पञ्चपरमेष्ठियों में प्रथम रखा गया है।

घनघातिकर्म से रहित, केवलज्ञानादि परमगुणों से सहित और चौंतीस अतिशयों से जो युक्त है उनको अर्हन्त कहा गया है।[4] जिन्होंने आठ कर्मों के

1- त०वा०, 9/24

2- युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि, पृ० 10-11

3- "जो पढइ गुणइ निसुणइ इणमो गुणसंथवं महरिसीणं।
सिरिधम्मघोससमणहं काउं सो लहइ सिद्धिसुहं ।।"
--ऋषिमण्डलस्तव, जै०स्तो०सं०, भा०-1, पद्य-209

4- "घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ।।"
-- नि०सा०, गा०- 71

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंध को नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से संयुक्त परम लोक के अग्रभाग में स्थित और नित्य है, वे सिद्ध कहलाते हैं।[1] जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य इन पांच आचारों से परिपूर्ण, पांच इन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलने वाले, धीर और गुणगम्भीर हैं, वे आचार्य हैं।[2] उपाध्याय वह है जिसके पास जाकर मोक्ष के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है। वह अज्ञानरूपी अन्धकार में भटकते हुए जीवों को ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करता है।[3] साधु म उसे कहा गया है जो चिरकाल से जिनदीक्षा में प्रव्रजित हो चुका है तथा उसे शीलव्रती, रागरहित और विविध विनयों से युक्त होना चाहिये।[4]

1- "णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।

--नि०सा०, गा०-72

2- "पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।।"

— देखिए, वही, गा०- 73

3- "मोक्षाय शास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः।"

-- त०वा०, 9/24

4-(क) "चिरप्रव्रजितः साधुः।"

— स०सि०, 9/24

(ख) "थिरधरिय सीलमाला ववगयराया जसोहपडहत्था।
बहुविणयभूसियंगा सुहाइं साहू पयच्छंतु ।।"

— तिलोयपण्णत्ति, भा०-1, गा०-5

(ग) द्रव्यसंग्रह, पद्य-50

(घ) बोधपाहुड, गा० -30

(ङ) पञ्चाध्यायी, 2/607

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमेष्ठि का स्वरूप

जैनसाहित्य के अन्तर्गत- जो मृत्यु, जरा, मद, विभ्रम, स्वेद और खेद से रहित होता हुआ उत्पत्ति और रतिविहीन है, उसे परमेष्ठी कहा गया है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने परमेष्ठि उसे कहा है जो मलरहित, शरीररहित, अनिन्द्रिय, केवलज्ञानी, विशुद्धात्मा, परमजिन और शिवङ्कर हों।[2] उपर्युक्त मत का समर्थन आचार्य समन्तभद्र[3], आचार्य पूज्यपाद[4] और श्री सिद्धसेन[5] ने भी किया है।

पञ्चपरमेष्ठि भक्ति

पञ्चपरमेष्ठि की भक्ति करने वाला जीव, अष्टकर्मों का नाशकर, संसार के आवागमन से छूट जाता है। उसे सिद्धि, सुख और बहुत सम्मान प्राप्त होता है।[6] पञ्चपरमेष्ठि लोक में उत्तम है, वीर तथा विद्याधरों से पूज्य

1- "क्षुत्पिपासाजरातंकजन्माऽन्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते प्रदोषमुक् ।।"
-- समी० धर्म०, 1/6

2- "मलरहिओ कलचित्तो अणिन्दओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवङ्करो सासओ सिद्धो ।।"
-- अष्टपाहुड-- मोक्षपाहुड, गा०- 6

3- समी०धर्म०, 1/6

4- समाधितन्त्र, श्लोक- 6

5- द्वात्रिंशिकास्तोत्र, तथा देखिए, स्वयम्भूस्तुति

6- "एण थोत्तेण जो पंचगुरुवंदए, गुरु य संसारघणवल्लि सो छिंदये।
लहइ सो सिद्धिसोक्खाइ बहुमाणणं, कुणइ कम्मिंधणं पुंजपज्जालणं।।"
--प्राकृतपञ्चगुरुभक्ति, गा०-6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। संसार के दुःखाभिभूत प्राणियों के लिए वे ही एक मात्र शरण हैं। उनका स्वभाव मंगलरूप है।[1] पञ्चपरमेष्ठियों की भक्ति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की प्राप्ति होती है।[2] जैन आचार्यों ने पञ्चपरमेष्ठि की भक्ति से मोक्ष प्राप्ति का होना भी स्वीकार किया है।[3]

श्री शिवार्यकोटि ने भगवती आराधना में पञ्चपरमेष्ठि भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि- "जो पुरुष पञ्चपरमेष्ठि में भक्ति नहीं करता, उसका संयम धारण करना, ऊसर खेत में बीज बोने के समान हैं। इस भक्ति के बिना यदि कोई अपनी आराधना चाहता है, तो वह ऐसा ही है, जैसे बीज के बिना धान्य की इच्छा करना और बादल के बिना पानी चाहना।"[4]

1- "झायहि पंचवि गुरवे मंगलचउसरण लोयपरियरिए ।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥"
--भावपाहुड,अष्टपाहुड, गा0-124

2- "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः,
कुर्वन्तु मङ्गलाः सर्वे निर्वाणपरमश्रियम ।
सर्वान् जिनेन्द्रचन्द्रान्सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् ।
रत्नत्रयं च वन्दे रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥"
--संस्कृत पञ्चगुरुभक्ति, श्लो0 8-9

3- (क) देखिए, वही
(ख) सम्0धर्म0, 7/12
(ग) ज्ञानार्णव, श्लो0" 29

4- "बीएण विणासस्सं, इच्छदि सो वासमब्भएणं विणा।
आराधणमिच्छंतो, आराधणभत्तिमकरंतो ॥
तेसिं आराहणणा यगाण ण करेज्ज जो णरो भत्तिं।
धत्तिं पि संजमं तो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥"
-- भ0आ0, गा0- 54-53

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य जिनसेन ने कहा है कि पञ्चनमस्कार मन्त्र के द्वारा, जो योगिराज परमतत्त्व परमात्मा का ध्यान करता है, वही ब्रह्म-तत्त्व को जान पाता है।[1] आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में लिखा है कि पंचपरमेष्ठी की स्तुति करने से ही "नित्य-परमानन्द" प्राप्त होता है।[2]

श्री जिनदत्तसूरि ने लिखा है, कि "जो प्रतिदिन पञ्चपरमेष्ठियों का स्मरण करता है, उसकी धार्मिक इच्छाओं को, शासनदेवता प्रसन्न होकर पूरा करते हैं।[3]

णमोकार-महामन्त्र

जैनधर्म का प्रसिद्ध "णमोकार मन्त्र" पञ्चपरमेष्ठि से ही सम्बन्धित है। इसमें अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार किया गया है।[4] जैन परम्परा में यह मन्त्र सृष्टि की भाँति ही अनादि निधन

1- "पञ्चब्रह्ममयैर्मन्त्रैः सकलीकृत्य निष्कलम् ।
परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मतत्त्ववित् ।।" --महापुराण,भा0-1,21/266

2- "दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरं,
ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम्।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिपुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति, पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ।।
-- ज्ञानार्णव, पद्य-29

3- "निच्चु वि सुगुरु-देवपयभत्तह, पणपरमिट्ठि सरंतह संतहं ।
सासणसुर पसन्न ते भव्वहं, धम्मियकज्जपसाहहिं सव्वहं ।।"
--उपदेशरसायनरास,अपभ्रंशकाव्यत्रयी,पद्य-25

4- "णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोएसव्वसाहूणं।"
-- षट्खण्डागम, मंगलाचरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना जाता है। जैसे- देवों में वीतराग देव तथा तीर्थों में शत्रुंजय तीर्थ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मन्त्रों में नवकार मन्त्र का अचिन्त्य प्रभाव है। यह महामन्त्र दुःखों को हरता है, सुखों को देता है। व्याधि, कष्ट तथा हर प्रकार के भय का नाश करने वाला है तथा सद्गति को प्रदान करता है।[1] जिस प्रकार अग्नि की छोटी सी चिनगारी बहुत बड़े वन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार नवकार-मन्त्र का अल्प मात्र जाप, अष्ट कर्मों को भस्म करने में समर्थ है।

जो भव्य प्राणी अपने जीवन काल में नवकार मन्त्र का नव लाख बार जाप करता है वह कभी नरक में नहीं जाता। आठ करोड़, आठ लाख, आठ हजार आठ सौ आठ बार पढ़ने वाला प्राणी तीसरे भव में मोक्ष को प्राप्त करता है। यह महामन्त्र चौदह पूर्व का सार है। नवकार मन्त्र का जाप हर समय हो सकता है। उठते, बैठते, सोते-जागते और दिन-रात्रि में इस का जाप किया जा सकता है।[2]

उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर णमोकार मन्त्र का प्राचीनतम उल्लेख हाथीगुम्फ के शिलालेख में प्राप्त होता है। जिसके निर्माता सम्राट खारवेल ईसा से 170 वर्ष पूर्व हुए हैं।[3]

1- "एसोपंच णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मंगलं ॥"
— ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पृ० 2।

तथा देखिए, ज्ञानार्णव, 38/43,46

2- (क) णमोकार महामन्त्र माहात्म्य, पद्य-2
(ख) विजयानन्द, सन् 1980, अंक-9, पृ० 2

3- कलिङ्गाधिपति खारवेल, हाथीगुम्फ शिलालेख, सिद्धान्त भास्कर, भाग-15, किरण 2, जनवरी 1949, पृ० 122

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखित साहित्य में आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम में सर्वप्रथम इस मन्त्र का उल्लेख मिलता है। आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है।[1]

भद्रबाहुस्वामी का कथन है कि- "इस मन्त्र से चिन्तामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक महत्त्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके सहारे जीव को मोक्ष मिलता है।"[2] णमोकार महामन्त्र की शक्ति को देवता कहा गया है। उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियां सन्निहित हैं। वे मोह के दुर्गमन को रोकने में पूर्णरूप से समर्थ हैं।[3] क्षत्रचूड़ामणि में वादीभसिंह सूरी नवकार मन्त्र का माहात्म्य बतलाते हुये कहते हैं-- "जिस प्रकार पथिक की यात्रा में कलेवा (नाश्ता) सहायक होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वालों को नमोकार मन्त्र भी प्रथम सहायक है और इसी मन्त्र के द्वारा ही रागद्वेषादि पापों का विनाश होता है।[4]

णमोकार मन्त्र में "सर्व" शब्द एवं "णमो" शब्द लगाने का कारण- अढ़ाई द्वीप के भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रों में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अतीतकाल में हुए, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, उनके ग्रहण के लिए "सर्व" शब्द लगाया गया है। विशेष आदर बतलाने के लिए प्रत्येक के

1- षट्खण्डागम, मंगलाचरण।

2- "तुह सम्मत्ते लद्धे चिन्तामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं।।"
--उपसग्गहरस्तोत्र, गा0-4

3- "स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्।
पायात्पञ्चनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता।।"
-- धर्मध्यानदीपक,नमस्कारमन्त्र, पद्य-3

4- क्षत्रचूड़ामणि, 4/8

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ "णमो" शब्द ग्रहण किया गया है।[1]

7- तीर्थङ्•करभक्ति

तीर्थङ्•कर की परिभाषा

तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थङ्•कर कहलाता है।[2] संसाररूपी सागर जिस निमित्त से तिरा जाता है, उसे वस्तुत: तीर्थ कहते हैं।[3] आचार्य श्रुतसागर ने सम्यग्दर्शनादि "रत्नत्रय" को तीर्थ कहा है क्योंकि उनके अभाव में संसार से छुटकारा पाना असम्भव है।[4] श्री योगीन्दुदेव ने आत्मा को ही तीर्थ कहा है, उसमें स्नान किये बिना कोई भी जीव संसार के दु:खों से मुक्त नहीं हो सकता।[5]

तीर्थङ्•कर शब्द के अनेक पर्यायवाची नाम भी उपलब्ध हैं। जैसे- सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, धर्मचक्रभृत, तीर्थकृत, दिव्यवाक्पति, स्वयंसम्बुद्ध,

---

1- (क) अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ॥
-- भ०आ०, गा०-754

(ख) विजयानन्द, अंक-2, सन् 1980, पृ0 5

2- "तीर्थं करोतीति तीर्थंकर:।" -- जिनसहस्रनाम, 4/47

3- "तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थम् ।" -- देखिए, वही

4- "धर्मश्चारित्रं स एव तीर्थ; तं करोतीति धर्मतीर्थंकर:।"
-- देखिए, वही, 4/48

5- "अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ॥"
-- परम०प्र0, 1/95

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषोत्तम, लोकनाथ, धर्मनायक आदि।[1]

तीर्थङ्कर एवं मुनि में अन्तर

तीर्थङ्कर और मुनि का एक ही लक्ष्य होने पर भी दोनों में अन्तर है। तीर्थङ्कर मौलिक मार्ग का स्रष्टा होता है, मुनि नहीं। इसी कारण तीर्थङ्कर के आगे धर्मचक्र चलता है।[2] तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है।[3] तीर्थङ्कर के पञ्चकल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, मुनि के नहीं।[4] तीर्थङ्कर समवशरण में विराजकर 14 पूर्व और बारह अङ्गों का उपदेश देता है।[5] उसकी ध्वनि "दिव्यध्वनि" कहलाती है।[6] मुनि को न तो

1- (क) सर्वंजानाति वेत्तीति सर्वज्ञः। विशिष्टा ई तां प्रति हतः प्राप्तो रागो यस्य स वीतरागः। अरिहननाद्रजोहननभावाच्च परिप्राप्तानन्तचतुष्टयस्वरूपः सन् इन्द्रनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीति अर्हन्। त्रिकाल केवलज्ञानमस्त्यस्य केवली। जिनधर्मचक्रं सहस्रारयुक्तं तीर्थकृदग्रे निराधारतया विहारकाले गगने गच्छत् सर्वजीवदयासूचकं रत्नमयमायुधविशेषं बिभर्ति तद्‌ऽनुभवतीति धर्मचक्रभृत्। तीर्थं करोतीति तीर्थकृत्।"

--धनञ्जयनाममाला, श्लो०-116, भाष्य

(ख) धे०वं०म०, गा०- 303, 35।

2- जिनसहस्रनाम, 2/27

3- "यदिदं तीर्थकरनामकर्मानन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्याश्रवविधिविशेषोऽस्तीति।"

-- स०सि०, 6/24

4- जिनसहस्रनाम, 3/33

5- स्व०स्तो०, 6/3

6- "दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्वं भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः।"

--भक्तामरस्तोत्र, पद्य-7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समवशरण की विभूति ही मिलती है और न दिव्यध्वनि ही। तीर्थङ्कर को आठ प्रातिहार्य होते हैं, मुनि के एक भी नहीं। मुनि तीर्थङ्कर के बनाये पथ पर चलकर ही लक्ष्य प्राप्त कर पाता है।[1]

जैनधर्म में चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यता है। आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव एवं अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर माने जाते हैं।[2] जैनग्रन्थों में वर्तमान चौबीस तीर्थङ्करों के सिवाय भूत और भविष्यत काल के चौबीस तीर्थङ्करों के नामों का उल्लेख भी हुआ है।[3]

जैनमतानुसार वर्तमान चौबीस तीर्थङ्करों का अनुकरण सभी धर्मों ने किया है। बौद्धधर्म में चौबीस बुद्ध स्वीकार किये गये हैं। वैदिकधर्म 24 अवतारों की कल्पना करता है और इस्लाम 24 रसूलों को मानता है। श्रीमद्भागवत में प्रथम जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव को अष्टम अवतार के रूप में चित्रित किया गया है। "रमेल" ने इसे वैदिक समन्वयवाद कहा है।[4]

जो स्थान हिन्दुओं में अवतार का, बौद्धों में बुद्ध का, ईसाइयों में ईसामसीह का, मुसलमानों में पैगम्बर का है वही स्थान जैनों में तीर्थङ्कर का है।[5]

तीर्थङ्करभक्ति

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थङ्कर नामकर्म के बन्ध के लिए सोलह-

1- (क) संस्कृतनिर्वाणभक्ति, श्लो0-14
   (ख) तिलोयपण्णत्ति, भा0-1, 4/919-927
2- देखिए, वही, भा0- 2, पृ0 1013
3- देखिए, वही
4- जयगुञ्जार, दिसम्बर, सन् 1982, पृ0 10
5- राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृ0 425, 426

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारणभावनाओं का ध्यान करना आवश्यक कहा है।[1] उमास्वामी आचार्य ने तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध के लिए अर्हद् भक्ति को मुख्य स्थान दिया है।[2] आचार्य सोमदेवसूरि तीर्थङ्कर के माहात्म्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि--"हे अर्हन्तदेव! आपको जन्म से ही अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग इन्द्रियों से होने वाला मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है। आपको गुरु की सहायता की आवश्यकता ही नहीं रहती, आप समस्त दोषों से रहित हैं, आपके वचन नीतिपूर्ण हैं, आपके द्वारा कही गई विधियां प्राणियों की रक्षा में तत्पर हैं। हे देव! जिसके मन में आप विराजमान हैं, लक्ष्मी उसकी स्वयं सेवा करती है।"[3] अठारहवीं शती के कवि द्यानतराय ने बीस तीर्थङ्कर पूजा काव्यकृति में तीर्थङ्करों की भक्ति को भवसागर से मुक्त होने के लिए की है।[4]

तीर्थङ्करभक्ति के लिए आराधक में लघुता, शरण, गुणकीर्त्तन, नामकीर्त्तन तथा दास्यभाव आदि का होना आवश्यक है। लघुता[5], शरण[6]

1- "विणय विरत्तो समणो छद्द सवर कारणाइ भाऊण ।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ।।"-भावपाहुड,अष्टपाहुड,गा0-79

2- त0सू0, 6/24

3- यशस्तिलकचम्पू, 8/45-51

4- श्री बीसतीर्थङ्कर पूजा, जयमाला, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि

5- (क) लक्ष्मीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलाप- लेशोऽल्प मतेर्महामुने ।
अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ।।
--स्व0स्तो0, 14/5

(ख) भक्तामरस्तोत्र, पद्य-6

6- (क) विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।
--सामायिकपाठ, पद्य-20

(ख) कल्याणमन्दिरस्तोत्र, पद्य-40

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणकीर्त्तन[1], नामकीर्त्तन[2] आदि विशेषतायें जैनस्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत विशद रूप में उपलब्ध मिलती है।

तीर्थङ्करभक्ति साहित्य

प्राकृतभाषा में खरतरगच्छीय जिनवर्द्धन सूरि ने चन्द्रप्रभुचरित्र की रचना की है। इसके पश्चात् देवगुप्तसूरि के शिष्य यशोदेव ने संवत् 1178 में चन्द्रप्रभुचरित्त लिखा। श्री चन्द्रसूरि के शिष्य वारगच्छीय हरिभद्रसूरि ने महाराजा सिद्धराज एवं कुमारपाल के महामात्य पृथिवीपाल के अनुरोध पर 24 तीर्थङ्करों का जीवनचरित्र लिखा, इसमें चंदप्पचरिय भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की एक प्रति पाटन के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है।

1- (क) अकलंकस्तोत्र, पद्य-1
   (ख) "गुण-स्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
   आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ।।"
   -- स्व0स्तो0, पद्य-18/1

2- (क) "आस्तामचिन्त्य महिमा जिनसंस्तवस्ते, नामापि पाति-
   भवतो भवतो जगन्ति ।
   तीव्रातपोहतपान्थजनान्निदाघे, प्रीणाति पद्मसरसः
   सरसोऽनिलोऽपि ।।"
   --कल्याणमन्दिरस्तोत्र, पद्य-7

   (ख) एकीभावस्तोत्र, पद्य- 16
   (ग) वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
   माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
   उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं-
   त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ।।
   — भक्तामरस्तोत्र, पद्य- 42

   तथा देखिए, पद्य-9, 20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश भाषा में सर्वप्रथम पुष्पदन्त ने महापुराण में चन्द्रप्रभु स्वामी के जीवन का वर्णन किया है। इसके पश्चात् महाकवि यश:कीर्ति ने चंदप्पचरिए की रचना की। इस ग्रन्थ में लगभग 2409 श्लोक हैं। इसमें महाकाव्य के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं।

जैन संस्कृत साहित्य में भी तीर्थङ्‌कर चरित काव्यों की विस्तृत रचना की गई है। जैनचरित काव्यों में मुख्यत: 63 शलाकापुरुषों का चरित्र वर्णन हुआ है। 24 तीर्थङ्‌कर, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र और 12 चक्रवर्ती इन 63 पुरुषों को जैन साहित्य में शलाका संज्ञा से अभिहित किया गया है। संस्कृत भाषा में आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचना की थी। इसके बाद महाकाव्य के रूप में आचार्य वीरनन्दि ने 11वीं शताब्दी में चन्द्रप्रभुचरित की रचना करके जनसाधारण एवं विद्वत् समाज दोनों को इस ओर आकृष्ट किया। 16वीं शताब्दी में भट्टारक शुभचन्द्र ने और 17वीं शताब्दी में कवि दामोदर ने भी चन्द्रप्रभुचरित की रचना की।

इन चरितकाव्यों के अतिरिक्त कवि असगकृत वर्धमानचरित, वाग्भटकृत नेमिनिर्वाणकाव्य, वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, भट्टारक सकलकीर्ति रचित शान्तिनाथचरित और मेरुतुङ्‌गसूरिकृत महापुरुषचरित आदि का भी उल्लेख मिलता है। महापुरुषचरित में भगवान् आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं वर्धमान इन पांच तीर्थङ्‌करों का चरित निबद्ध है।[1]

1- (क) अहिंसावाणी, वर्ष 12, अंक 9, पृ0 419-420

(ख) तुलसीप्रज्ञा, अंक 7, सन् 1980, अक्टूबर, पृ0 15

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8- शान्तिभक्ति

शान्ति से तात्पर्य

कर्मजनित सन्ताप के उपशम का नाम शांति है।[1] क्षणिक अथवा शाश्वत शान्ति प्राप्त करने के लिए की गई भक्ति वस्तुतः शान्तिभक्ति कहलाती है।[2] वैसे तो जैनधर्म में 24 तीर्थङ्कर शान्तिदायक हैं किन्तु उनमें भी सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ को विशिष्टरूप से शान्तिप्रदायक माना जाता है। अनेक जगह उन्हीं की एतदर्थ स्तुति आदि की गयी है।

आचार्यपूज्यपादकृत शान्त्यष्टक एवं कविवर वृन्दावन विरचित शान्तिनाथ पूजा में अपूर्व शान्तिभक्ति की गई है। उपर्युक्त आचार्यों ने मन, वचन, एवं काय से शान्तिनाथ भगवान् की पूजा की है और कामना की है कि जन्मगत पातक शान्त हो जायें तथा मनोवांछित सुख प्राप्त हों। अन्ततोगत्वा वे शिवपुर की सत्ता पाने की मंगल कामना भी करते हैं।[3]

शान्तिस्थापना के लिए शान्तियन्त्र की पूजा का विधान भी जैन परम्परा में है। सागरचन्द्रसूरि ने लिखा है--"शान्तियन्त्र की पूजा, अर्चा से

1- सूत्रकृताङ्ग, सूत्र, 3,4,20

2- श्री शान्तिनाथपूजा, ज्ञानपीठ पूजान्जलि, पृ0 202

3- "क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविष ज्वालावलीविक्रमो ।
विद्याभेषजमन्त्रतोयहवनैर्याति प्रशान्तिं यथा ।।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणाम् ।
विघ्नाः कायविनायकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मयः।।"
--संस्कृतशान्तिभक्ति, श्लो0 -2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोग, पाप और व्याधियां उपशम हो जाती हैं और सौभाग्य का उदय होता है।[1]

शान्तिभक्ति

शान्तिभक्ति के द्वारा आराधक स्व-पर-कल्याण की मंगल कामना करता है।[2] आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत शान्तिभक्ति के अन्तर्गत लिखा है कि भगवान् के चरणों के गीत गाने से समस्त आमय इसप्रकार दूर हो जाते हैं, जैसे सिंह की गर्जना से हाथी भाग जाते हैं। वे आगे लिखते हैं कि "जिनेन्द्र के चरणों की वन्दना से बाधारहित, अचिन्त्य माहात्म्य, अतुल, उपमारहित और नित्य सुख भी प्राप्त होता है। अन्त में आचार्य पूज्यपाद संघ, आचार्य, साधु, धार्मिकजनों और राष्ट्र के लिए शान्ति की याचना करते हैं।[3]

तीर्थङ्कर शान्तिनाथ की भक्ति

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है, "हे शान्ति जिनेन्द्र। अनेक शान्त्यर्थी जीव, आपके पाद-पद्मों का आश्रय लेकर तर गये हैं, उन्होंने शाश्वत मोक्षरूप

1- "शमयति दुरितश्रेणिं दमयत्यरिसन्ततिं सततमसौ ।
पुष्णाति भाग्यनिचयं मुष्णाति व्याधिसम्बाधाम् ।।"
-- मन्त्राधिराजकल्प, भा0-2, श्लो0-33

2- नित्यपूजापाठसंग्रह, शान्तिपाठ, पृ0 203

3- "त्वत्पादद्वयपूतगीतरवत: शीघ्रं द्रवन्त्यामया: ।
दर्पाध्मातमृगेन्द्रभीमनिनदाद्वन्या यथा कुञ्जरा:।।"
"अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं ।
सौख्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते ।।
संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ: करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्र:।।"
--संस्कृतशान्तिभक्ति, श्लो0 339,6,14

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शान्ति प्राप्त कर ली है। मुझ पर भी कृपादृष्टि कीजिए, मैं भक्तिपूर्वक शान्त्यष्टक का पाठ कर रहा हूँ।[1]

मुनि शोभन ने लिखा है कि शान्ति जिनेन्द्र के प्रवचनों को सुनने मात्र से यह जीव, शाश्वत शान्ति प्राप्त कर लेता है।[2] कवि कुलप्रभ का कथन है--"हे जगद् भास्कर! संसाररूपी कमल में बंधे जीवरूपी भ्रमर आप जैसे सूर्य के उदय होते ही बन्धन से छूट जायेंगे, तभी उनको स्थायी शान्ति मिल सकेगी।"[3]

ग्रन्थों के अन्तिम मङ्गलाचरणों में भी प्रायः अपने लिए, संघ के लिए और देश के लिए भगवान् शान्तिनाथ से शान्ति की याचनाएं की गयी हैं। धर्मसंग्रह श्रावकाचार के अन्तिम मङ्गलाचरण में ऐसी ही कामना की गई है।[4]

1- "शान्तिं शान्तिजिनेन्द्र शान्तमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्,
सं प्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः ।।
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु,
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गादतः शान्त्यष्टकं भक्तितः ।।"
— संस्कृतशान्तिभक्ति, द०भ०सं०, पद्य-1

2- स्तुतिचतुर्विंशतिका, पद्य-3

3- "सौरभ्यभ्रमतो भ्रमद्भ्रमरवल्लीनो भवाम्भोरुहे ।
बद्धस्तत्र दलैर्विमोचय ततः शान्ते। जगद्भास्कर ।।"
--चतुर्विंशतिजिनस्तव, जै०स्तो०समु०, पद्य-17

4- "शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा।
शान्तिः सुप्रजशान्तयोभरभृतां शान्तिर्मुनीनां सदा ।।
श्रोतॄणां कवितावृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः ।
शान्तिः शान्तिरथाग्निजीवनमुचः श्रीसज्जनस्यापि च ।।
--धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पद्य-35

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

9- समाधि-भक्ति

समाधि की परिभाषा

चित्त के समाधान को समाधि कहते हैं।[1] जिस प्रकार भाण्डागार (खजाना) में अग्नि के लग जाने पर बहुत उपकारक होने से उसे शान्त किया जाता है- बुझाया जाता है- उसीप्रकार अनेक व्रतों व शीलों से सम्पन्न मुनि के तपश्चरण में कहीं से विघ्न के उपस्थित होने पर, जो धारण किया जाता है, शान्त किया जाता है, उसे समाधि कहते हैं।[2] अथवा गुरु आदि के कार्य के करने से जो चित्त को स्वस्थ्य मोक्षमार्ग में स्थित किया जाता है इसका नाम समाधि है।[3] योग एवं समाधि में मौलिक अन्तर न होकर केवल नाम भेद माना जा सकता है। साम्य, समाधि, स्वास्थ्य, योग, चित्त निरोध और शुद्धोपयोग एकार्थवाची कहे जा सकते हैं। आत्मस्वरूप में अवस्थित होना योग है और चित्त का एक आलम्बन अथवा ध्येय में सम्यक् प्रकार से स्थित होना समाधि है।

समाधि के भेद

समाधि के दो भेद हैं - सविकल्पक समाधि और निर्विकल्पक समाधि। मन्त्र अथवा पन्चपरमेष्ठी के गुणों पर चित्त को एकाग्र करना, चित्त को

1- "चेतसश्च समाधानं समाधिरित गद्यते।"

-- धनन्जयनाममाला, पद्य- 124

2- "यथाभाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्त-थाऽनेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्सन्धारणं समाधिः।"

-- स०सि०, 6/24

3- (क) आवश्यकनिर्युक्ति, पद्य-180

(ख) जैनलक्षणावली, भा० 3, पृ० 1096

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टिकाना सविकल्पक समाधि है।[1] जबकि भगवान् सिद्ध या निराकार शुद्धात्मा में चित्त का केन्द्रित करना वस्तुतः निर्विकल्पक समाधि का विषय है।[2] समाधि को ध्यान शब्द से कहा गया है। ध्यान के चार भेद हैं-- आर्त, रौद्र, धर्म्य तथा शुक्ल। श्री देवसेन ने ध्यान को दो भेदों में विभक्त किया है। यथा--सालम्ब-ध्यान और निरवलम्ब ध्यान।[3]

समाधिभक्ति का महत्त्व

समाधि धारण कर मोक्ष प्राप्तकर्ता से समाधिमरण की याचना करना वस्तुतः समाधिभक्ति कहलाती है।[4] समाधिपूर्वक प्राणों का विसर्जन करना समाधिमरण है। समाधि से यहाँ सल्लेखना अर्थ लिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृतभक्तियों के अन्त में भगवान् जिनेन्द्र से समाधिमरण की याचना की है।[5] आचार्यपूज्यपाद भी कहते हैं कि--"हे भगवन्! जब तक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ, तब

1- "णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं मणु अत्थवणहं जाइ ।।
-- पर०प्र०, गा०-162

2- देखिए, वही, गा०-188

3- "तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं ।
पंचपरमेट्ठीरुवं अहवा मन्तक्खरं तेसिं ।।"
-- भावसंग्रह, दोहा- 388

4- सर्मी०धर्म०, 6/2

5- "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं,समाहिमरणं
जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।"
-- प्राकृतदशभक्ति, अन्तिम पद्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक आपके चरण युगल मेरे हृदय में और मेरा हृदय आपके दोनों चरणों में बना रहे।[1] शिवार्यकोटि ने भगवती आराधना के अन्त में लिखा है-- "भक्ति से वर्णन की गयी यह भगवती आराधना, संघ को तथा मुझको उत्तम समाधि का वर प्रदान करें।[2] कवि पुष्पदन्त ने लिखा है कि श्री पृथ्वी देवी, बड़ी रानी के कुव्यवहार से वन-विहार के लिए न जाकर जिन मन्दिर में चली गयी। वहाँ उसने भगवान् जिनेन्द्र से प्रार्थना की, "हे मोक्षगामी भगवान्! तुम मेरे स्वामी हो। मुझे बोधि और विशुद्ध समाधि दीजिए।"[3]

1- (क) तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥

-- संस्कृतसमाधिभक्ति, पद्य-7

(ख) "आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया,
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः ।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम ॥"

-- संस्कृतसमाधिभक्ति, द०भ०सं०, पद्य-6

2- "आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाहिवरमुत्तमं देउ ॥

-- भ०आ०, गा०- 2168

3- "हली मोक्खगामी, तुमं मज्झसामी ।
फुड देहि बोही, विसुद्धा समाही ॥"

-- णायकुमारचरिउ, 3/20

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधिमरणपूर्वक मरने वाले साधु के अन्तिम संस्कार स्थल को "नशियांजी" कहते हैं। इसी को प्राकृत में "णिसीहिया" और अपभ्रंश में "निसीहिया" कहा गया है। भगवती आराधना में कहा गया है--"जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपक के शरीर का विसर्जन या अन्तिम संस्कार किया जाता है उसे निषीधिका कहते हैं।[1] "निसीदिया" का प्राचीनतम उल्लेख सम्राट खारवेल "हाथीगुम्फ" वाले शिलालेख में हुआ है।[2] ऐसे समाधिमरण वाले स्थलों का महत्त्व जैन परम्परा में मिलता है। प्रतिक्रमणसूत्र में कहा गया है--"इस जीव लोक में जितनी भी निषीधिकाएं हैं, उन्हें नमस्कार हो।"[3]

1- "यथा निषीधिका आराधकशरीर स्थापनास्थानम् ।"

-- भ०आ०, गा०-1967

2- "कुमारीपवते अर्हतोपरि निवामेताहिकाये.निसिदियाय था पूजावकेहि राजभितानि च नवतानि वसुलतानि पूजानि जीव देककाले रखिता।"

-- जैनसिद्धान्तभास्कर,भा०-16,किरण-2,पृ० 135

3- "जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि•••••।

-- प्रतिक्रमण सूत्र, सूत्र- 160

तथा देखिए, धर्मध्यानदीपक, पृ० 184, 185

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

10- निर्वाणभक्ति

निर्वाण का स्वरूप

जैन आगम में निर्वाण को ही मोक्ष कहा जाता है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष[1] है और सम्पूर्ण कर्मों का बुझ जाना "निर्वाण"[2] है। बौद्ध-मतानुसार आत्मा के बुझ जाने अर्थात् शान्त हो जाने को निर्वाण कहा गया है। जैसा कि बौद्ध पिटकों में "शान्तं निब्बाणं" वाक्य आया है। अश्वघोष महाकवि ने दीपक की भांति दु:खक्लेशादि के क्षय होने पर, आत्मा का शान्त हो जाना निर्वाण माना है।[3]

निर्वाणभक्ति का महत्त्व

जो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं, उनकी तन्मयता से भक्ति करना निर्वाणभक्ति है। इस भक्ति के अन्तर्गत पन्चकल्याणक स्तुति, तीर्थङ्करों का स्तवन, निर्वाण स्थलों के प्रति सम्मान, तीर्थयात्रायें और तीर्थस्तुतियां भी

1- "कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष: ।"-त0सू0, 10/2

2- "निर्वाति स्म निर्वाण:, सुखीभूत: अनन्तसुखं प्राप्त:।"

-- जिनसहस्रनाम, पृ0 98

3- "दीपोयथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् स्नेहक्षयाद् केवलमेति शान्तिम् ।।

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात्केवलमेतिशान्तिम्।।

--सौन्दरनन्द, 16/28,29

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्मिलित हैं। जैन आचार्यों[1] ने पञ्चकल्याणकों से सम्बन्धित स्थानों को मन, वचन एवं काय से शिर झुकाकर नमस्कार किया है। उनका कहना है कि जो जीव पञ्चकल्याणकों की स्तुति करता है, वह इस मनुष्यलोक में परम सुख भोग कर, अन्त में अक्षय शिवपद को प्राप्त करता है।

आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत निर्वाणभक्ति के 12 पद्यों में, तीर्थङ्कर, गणधर, श्रुतधर और अन्य वीतरागी महापुरुषों की निर्वाण भूमियों को भक्तिपूर्वक शुद्ध मन, वचन, काय से नमस्कार किया है।[2] डॉ० भुजबलि शास्त्री के अनुसार भद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य ने चोल और पाड्य देशों में पर्यटन करते हुए, वहाँ के जिनालयों की वन्दना की थी।[3]

सम्राट कुमारपाल ने जैन तीर्थ गिरनार की तीर्थयात्रा की थी। निर्वाणभक्ति के अन्तर्गत पञ्चकल्याणक स्तुति, तीर्थङ्करों का स्तवन, निर्वाण स्थलों के प्रति सम्मान, तीर्थयात्रायें और तीर्थ स्थानों का समावेश भी किया

1- (क) "पञ्चकल्याणठाणइ जाणवि संजादमच्चलोयम्मि।
मणवयणकायसुद्धी सव्वे सिरसा णमंसामि ।।"
--प्राकृतनिर्वाणभक्ति, गा0-23

(ख) "कल्याणैः संस्तोष्ये पञ्चभिरनघं त्रिलोकपरमगुरुम् ।
भव्यजनदृष्टिजननैर्दुरवापैः सन्मतिं भक्त्या ।।
इत्येवं भगवति वर्धमानचन्द्रे यः स्तोत्रं पठति सुसन्ध्ययोर्द्वयोर्हि।
सोऽनन्तं परमसुखं नृदेवलोके भुक्त्वान्ते शिवपदमक्षयं प्रयाति ।।"
--संस्कृतनिर्वाणभक्ति, पद्य-2,20

2- देखिए, वही, पद्य- 21, 27, 31

3- दक्षिण में जैनधर्म, हुकुमचन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0 379

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है।[1] इसलिए इस भक्ति के अन्तर्गत तीर्थस्थानों का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है। तीर्थ के दो भेद किये गये हैं-- द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। जिसके द्वारा शारीरिक दाह का उपशमन हो, प्यास शान्त हो और शारीरिक या वस्त्रादि का मैल वा कीचड़ बह जाये, इन तीन कारणों से युक्त स्थान को द्रव्यतीर्थ कहते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्ररूपी रत्नत्रय धर्म को भावतीर्थ कहते हैं। इस भावतीर्थ के द्वारा ही भव्य जीव संसार सागर से पार उतरते हैं। इस रत्नत्रय भावतीर्थ का जो प्रवर्तन करते हैं वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं।[2]

।।- नन्दीश्वर-भक्ति

नन्दीश्वर-द्वीप की रचना

जैन मतानुसार मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। वे एक दूसरे को घेरे हुए, दूने विस्तार और चूड़ी के आकार वाले हैं।[3] उन सबके मध्य में

1- प्रबन्धचिन्तामणि, चतुर्थप्रकाश, पृ० 87,93

2- "दुविहं य होइ तित्थं पादव्वं दव्वभावसंजुत्तं ।
एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि ।।
दाहोपसमण तण्हा छेदो मलपंकपवहणं चेव ।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ।।
दंसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तह्या ते भावदो तित्थं।।"
— मूलाचार, गा०- 61,62,63

3- "जम्बूद्वीपलवणोदादय: शुभनामानो द्वीपसमुद्रा: । द्विर्द्विर्विष्कम्भा: पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतय: ।"
-- स०सि०, 3/7,8

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जम्बू द्वीप है, उसका विस्तार एक लाख योजन है, उसे दो लाख योजन का लवणसमुद्र घेरे हुए है।[1] इसी क्रम से आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। नन्दीश्वर-द्वीप का विस्तार एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है। यह नन्दीश्वर द्वीप समुद्र से घिरा हुआ है।

नन्दीश्वर द्वीप की चार दिशाओं में काले वर्ण के चार अञ्जनगिरि हैं। जिनमें से प्रत्येक 84000 योजन ऊँचा है। इनके चारों ओर चार-चार जलवापिकाएं हैं, जो एक लाख योजन लम्बी चौड़ी हैं। इन सोलह वापिकाओं के मध्य में सफेद रंग की दधिमुख पर्वत है, जो दस-दस हजार योजन ऊँचे हैं। प्रत्येक जलवापिका के बाहर के कोने में लाल वर्ण के दो-दो रतिकर पर्वत हैं, वे एक-एक हजार योजन ऊँचे हैं।[2]

इसप्रकार चार अञ्जनगिरि, सोलह दधिमुख और बत्तीस रतिकर पर्वतों का योग बावन होता है। इनमें प्रत्येक पर एक-एक विशाल जिनमन्दिर हैं, सभी अकृत्रिम हैं और अनादिकाल से चले आ रहे हैं। प्रत्येक जिनमन्दिर 72 योजन ऊँचा है, उनमें पाँच सौ धनुष ऊँची जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं।[3]

नन्दीश्वर-भक्ति

नन्दीश्वर-द्वीप के अकृत्रिम जिनमन्दिरों में और उनमें स्थापित जिनप्रतिमाओं की पूजा-अर्चा करना नन्दीश्वरभक्ति कहलाती है। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में, सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र

1- "तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।"
— स०सि०, 3/9

2- जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा० 2, पृ० 503

3- तिलोयपण्णत्ति, भा० 2, गा०- 52-115

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नन्दीश्वरद्वीप में जाते हैं दिव्य अक्षत, गन्ध, पुष्प और धूप आदि द्रव्य से उन अप्रतिम प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।[1] मध्यलोक के अन्य द्वीपों के साधारण जीव वहाँ नहीं जा सकते। वे यहाँ पर ही अपने मन्दिरों में नन्दीश्वरद्वीप का चित्र बनाकर, अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिमाओं की स्थापना करके पूजा-अर्चा करते हैं। यह ही नन्दीश्वर-भक्ति है।

कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में किया जाने वाला पूजन आदि समारोह को अष्टान्हिकापर्व कहा जाता है। इन दिनों सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र नन्दीश्वरद्वीप की प्रतिमाओं का अभिषेक करता है। अन्य इन्द्र भी, उसके इस कार्य में सहायक होकर सहायता करते हैं। उनकी महादेवियां अष्ट मंगल-द्रव्य धारण किये रहती हैं। अप्सरायें नृत्य करती हैं। इस पूजा-वैभव का वर्णन बृहस्पति भी नहीं कर सकता।[2]

अष्टान्हिकापर्व के महत्त्व को आचार्य रविषेण[3], आचार्य जिनसेन[4],

---

1- "आषाढकार्तिकाख्ये फाल्गुनमासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्या: ।
आरभ्याष्टदिनेषु च सौधर्मप्रमुखविबुधपतयो भक्त्या ।।
तेषु महामहमुचितं प्रचुराक्षतगन्धपुष्पधूपैर्दिव्यै: ।
सर्वज्ञप्रतिमानामप्रतिमानां प्रकुर्वते सर्वहितम् ।।"
-- संस्कृतनन्दीश्वरभक्ति, पद्य-13, 14

2- "भेदेन वर्णना का सौधर्म: स्नपनकर्तृतामापन्न:।
परिचारकभावमिता: शेषेन्द्रारुन्द्रचन्द्रनिर्मलयशस: ।।
मङ्गलपात्राणि पुनस्तद्देव्यो बिभ्रति स्म शुभगुणाढ्या: ।
अप्सरसो नर्तक्य: शेषसुरास्तत्र लोकनाव्यग्रधिय: ।।
-- संस्कृतनन्दीश्वरभक्ति, पद्य- 15, 16

3- पद्मपुराण, 29/7-9

4- महापुराण, भा0 1, 5/227

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य हरिषेण[1] एवं आचार्य जिनप्रभसूरि[2] ने भी प्रतिपादित किया है।

आचार्य पूज्यपाद नन्दीश्वरद्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों को नमस्कार करते हुए लिखते हैं कि--"जिनमें भगवान् जिनेन्द्र की पांच सौ धनुष ऊंची, मणि-स्वर्ण और चांदी से जड़ी हुई, करोड़ों सूर्यों की प्रभा से भी अधिक चमक वाली प्रतिमाएं विराजमान हैं, उन चैत्यालयों को मैं नमस्कार करता हूं। वे भानु के विमान के समान देदीप्यमान, अद्वितीय, यश और तेज के अधिष्ठान रूप हैं। उनके दर्शनों से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।"[3] अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि जो प्रातः, मध्यान्ह तथा सन्ध्या, तीनों ही काल, नन्दीश्वर की भक्ति में स्तोत्र-पाठ करता है, वह अनन्तकाल तक रहने वाले मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[4] आचार्य जिनप्रभसूरि ने भी लिखा है कि नन्दीश्वर की भक्ति से मोक्ष

1- "नन्दीश्वर दिनेष्वेते द्वयोऽपि स्व-स्वपत्तने ।
महामहं कुर्वन्ति जिनानां भक्तितत्पराः ।।"
-- बृहत्कथाकोश, पृ० 320

2- "प्राच्येऽञ्जनगिरौ शक्रः कुरुतेऽष्टाह्निकोत्सवम् ।
प्रतिमानां शाश्वतीनां चतुर्द्वारे जिनालये ।।"
--नन्दीश्वरद्वीपकल्प, विविधतीर्थकल्प, पद्य-40

3- "तेषु जिनानां प्रतिमाः पञ्चशतशरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः ।
मणिकनकरजतविकृता दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः ।।
तानि सदा वन्देऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि ।
यशसां महसां प्रतिदिशमतिशयशोभाविभाञ्जि पापविभञ्जि ।।"
-- संस्कृतनन्दीश्वरभक्ति, पद्य-25,26

4- "सन्ध्यासु तिसृषु नित्यं पठेद्यदि स्तोत्रमेतदुत्तमयशसाम् ।
सर्वज्ञानां सार्वं लघु लभते श्रुतधरेडितं पदममितम् ।।"
-- देखिए, वही, पद्य-37

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्मी प्राप्त होती है।[1]

12- चैत्य-भक्ति

"चैत्य" शब्द का अर्थ

चैत्य शब्द का प्रयोग जैनपरम्परा में विभिन्न प्रकार से किया गया है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के समवशरण की रचना में चैत्यवृक्षों का प्रमुख स्थान होता है। आचार्य जिनसेन ने महापुराण में भगवान् ऋषभदेव के समवशरण के चैत्य-वृक्षों की छटा का सुन्दर चित्र खींचा है।[2] उनसे भी पूर्व हुए श्री यतिवृषभाचार्य की तिलोयपण्णत्ति में चैत्य-वृक्षों की दिव्य शक्ति को स्वीकार किया गया है, यहां तक कि उनको जीवों की उत्पत्ति और विनाश का निमित्तकारण मान लिया है।[3]

प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र ने चैत्य शब्द का प्रयोग "चैत्य-सदन" के अर्थ में किया है।[4] चैत्य यक्षों के आवासगृह थे। मुनि कान्तिसागर ने लिखा है कि ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में सभी जिन-सदन, यक्ष-चैत्यों के रूप में ही मिलते थे।[5]

श्री अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की वृत्ति में जिन-प्रतिमा को "चैत्य" शब्द से उल्लेखित किया है।[6]आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्पाहुड के बोधप्राभृत में

1- "वर्ष-दीप-दिनारब्धानुपवासान् कृतिथो।
कुर्वन्नन्दीश्वरोपास्त्यै श्रायसीं श्रियमर्जयेत् ।।"
-- नन्दीश्वरद्वीपकल्प, विविधतीर्थकल्प, पद्य-46

2- महापुराण, भा० 1, 22/186-194

3- तिलोयपण्णत्ति, भा० 1, 3/36,37

4- अभिधानचिन्तामणि, 4/60 .

5- खण्डहरों का वैभव, पृ० 69

6- भगवतीसूत्र, वृत्ति, प्रथम उत्थान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनेन्द्र के बिम्ब और प्रतिमा को चैत्य कहा है।[1] अभिधान-राजेन्द्रकोश में लिखा है--"नित्य पूजा के लिए जो अर्हन्त की प्रतिमा स्थापित की जाती है, वह चैत्य कहलाती है।"[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्ध ज्ञान रूप आत्मा को भी चैत्य कहा है और ऐसी आत्मा को धारण करने वाले, वीतरागी मुनि को चैत्य-गृह माना है।[3] उन व्यक्तियों की समाधि पर चैत्यालय बनाये जाते हैं, जिन्होंने शुद्ध आत्मा प्राप्त कर ली हो। जैनों में केवल पञ्चपरमेष्ठियों के ही चैत्यालय बनते हैं। अन्यत्र देवालय को भी चैत्य शब्द से अभिहित किया गया है।[4]

इसप्रकार से जैन साहित्य के अन्तर्गत चैत्य शब्द का अनेक प्रकार से प्रयोग मिलता है।

चैत्यभक्ति

इसप्रकार से चैत्यवृक्ष, चैत्यसदन, प्रतिमा, बिम्ब और मन्दिरों की पूजा-अर्चा चैत्यभक्ति कहलाती है। चैत्यभक्ति का आरम्भ गौतम गणधर ने "जयति भगवान्" से किया था। उसका भाव है--"भगवान् स्वर्ण के कमलों पर

1- "चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स ।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ।।
— बोधपाहुड, अष्टपाहुड, गा0-9

2- "नित्यपूजार्थं गृहे कारितार्हत्प्रतिमा चैत्यमिति।"
— अभि0रा0को0, भा0-5, पृ0 1366

3- "बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ।।"
—बोधपाहुड, अष्टपाहुड, गा0-8

4- जैनलक्षणावली, भा0 2, पृ0 444

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पैर रखते हुए चलते हैं। उन चरणों में अमरों के मणि जटित मुकुट भी झुका करते हैं। उनकी शरण में जाने वाले कलुष-हृदय "विगत कलुष" और परस्पर वैरी, परस्पर विश्वास को प्राप्त हो जाते हैं।"[1]

आचार्य कुन्दकुन्द के बोधप्राभृत की एक गाथा की व्याख्या करते हुए पं० जयचन्द छाबड़ा ने लिखा है--"चैत्य-भक्ति से सातिशय पुण्य बन्ध होता है, जो क्रमशः मोक्ष का कारण बनता है।"[2] आचार्य पूज्यपाद ने भी कृत्रिम और अकृत्रिम सभी चैत्यालयों की वन्दना की है।[3] चैत्यालयों की स्तुति करते हुए उन्होंने लिखा है--"तीनों लोकों में, तीर्थङ्कर परमदेव के जितने भी चैत्यालय हैं, उन सबको मैं, संसार की दुःखरूपी अग्नि को शान्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।"[4] उन्होंने भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रदीप्त प्रतिमाओं को भी

1- "जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भिता-
वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणः,
विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः ।।"
--संस्कृतचैत्यभक्ति, पद्य-1

2- बोधपाहुड, अष्टपाहुड, गा0- 9

3- "यावन्ति सन्ति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च ।
तानि सर्वाणि चैत्यानि वन्दे भूयांसि भूतये ।।"
--संस्कृतचैत्यभक्ति, पद्य-1

4- "भुवनत्रयेऽपि भुवनत्रयाधिपाभ्यर्च्यतीर्थकर्तृणाम् ।
वन्दे भवाग्निशान्त्यै विभवानामलयालीस्ताः ।।"
--देखिए, वही, पद्य-9

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्जलिबद्ध होकर नमस्कार किया है।[1]

श्री शान्तिसूरि ने जो सिद्ध हो चुके हैं, आगे होंगे और अभी वर्तमान हैं, उन सबकी त्रिविधि वन्दना की है।[2] श्री देवेन्द्रसूरि ने "शाश्वत चैत्य स्तव" में त्रिलोक के अकृत्रिम चैत्यालय और उनमें विराजित जिन-बिम्बों की संख्या दी है और अन्त की गाथा में सबको नमस्कार किया है।[3] श्री धर्मघोषसूरि ने लिखा है कि "श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीप के बावन चैत्यालयों में ऐसी अद्वितीय प्रतिमाएं हैं, जिनके सम्मुख अच्युतसदेव प्रणत होते रहते हैं और जिनकी इन्द्र स्तुति करते हैं।"[4]

श्री मदनकीर्ति ने विन्ध्यगिरि के पुराने जिनालयों की वन्दना करते हुए लिखा है--"विन्ध्यगिरि पर अगणित जिन-मन्दिर विद्यमान हैं, जिनकी इन्द्र भी पूजा करते हैं। उनकी भक्ति करने वाले सम्यग्दृष्टि मनुष्यों को, वे आज भी प्रत्यक्ष की भाँति प्रतिभासित होते हैं।"[5]

1- "द्युतिमण्डल-भासुराङ्गयष्टीः प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम् ।
भुवनेषु विभूतये प्रवृत्तावपुषा प्रांजलिरस्मि वन्दमानः ।।"
--संस्कृतचैत्यभक्ति, पद्य-12

2- चै०वं०म०, गा० 263

3- "सिरिभरहनिवइमुहेहि जाइं अन्नाइं इत्थ विहिआइं ।
देविन्दमुणिन्द थुआइं दिन्तु भवियाण सिद्धिसुहं ।।"
--शाश्वतचैत्यस्तव, जैनस्तोत्रसन्दोह, भा०1, पद्य-24

4- "श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीपेऽप्रतिमाः प्रणताऽच्युताः ।
द्विपञ्चाशति चैत्येषु प्रतिमाः प्रणताऽच्युताः ।।"
--चतुर्विंशतिजिनस्तुतयः, जैनस्तो०सं०, भा०1, पद्य-33

5- शासनचतुस्त्रिंशिका, पद्य-32

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3- पद्धति भेद की दृष्टि से भक्ति का विभाजन

भक्ति की पद्धति के भेद से भक्ति का दो तरह से विभाजन किया गया है। प्रथम विभाजन-जैन मुनि को आहार दान के समय की जाने वाली नवधा भक्ति। दूसरा विभाजन- वैदिक साहित्य में वर्णित श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नवधा भक्ति। जैनसाहित्य में इसका स्वतन्त्र उल्लेख मिलता है।

अ- नवधाभक्ति

आचार्य समन्तभद्र ने जैन मुनि को आहार देने वाली विधि के लिए नवधाभक्ति का विवेचन किया है। वे लिखते हैं--

"पडिगहमुच्चट्ठाणं, पादोदय मच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी, एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं ।।"[1]

अर्थात् पड़गाहन, उच्च स्थान देना, चरण प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और एषणाशुद्धि (आहार शुद्धि) इसप्रकार नवधा भक्तिपूर्वक मुनि को आहार देना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने भी नवधा भक्ति की विधि का उल्लेख "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" में किया है। यथा--

"संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः।।"[2]

1- (क) समी०धर्म० , पद्य-113
(ख) रत्न०श्रा० , पद्य-113
(ग) त०सू० , 7/39

2- पु०सि०, पद्य-168

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् प्रतिग्रहण, ऊँचा स्थान देना, पैर धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन:शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि।

मुनि को आहार देने वाली नवधाभक्ति का विवेचन करते हुये कहा गया है कि पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से विमार्गणकर-खोजकर- "नमस्कार हो" "ठहरिए" ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए।[1] पुन: अपने घर में लेजाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊँचे स्थान पर बैठाये, तत्पश्चात् उनके चरणों को धोना चाहिए।[2] पवित्र पादोदक को शिर में लगाकर पुन: गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से पूजन करना चाहिए।[3] तदनन्तर चरणों के सामने पुष्पांजलि क्षेपणकर वंदना करे। तथा आर्त और रौद्र ध्यान त्यागकर मन की शुद्धि करना चाहिए।[4] निष्ठुर और कर्कश आदि वचनों

1- "पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता ।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण ।।
-- व०श्रा०, गा०- 226

2- "णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि ।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं ।।"
--देखिए, वही, गा०-227

3- "पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा ।
गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं ।।"
--देखिए, वही, गा०-228

4- "पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा ।
चइऊण अट्ट-रुद्दे मणसुद्धी होई कायव्वा ।।"
--देखिए, वही, गा०- 229

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के त्याग करने को वचनशुद्धि कहते हैं। सभी ओर संपुटित अर्थात् विनीत अङ्ग रखने वाले दातार के कायशुद्धि होती है।[1]

आचार्य वसुनन्दि एवं आचार्य गुणभूषण स्वामी ने नवधाभक्ति की विधि को दान विधि कहा है। यथा--

"पडिगह मुच्चट्ठाणं पादोदय मच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही ।।"[2]

"स्थापनोच्चासन पादपूजा-प्रणमनैस्तथा ।
मनोवाक्कायसंशुद्ध्या वा शुद्धो दानविधिःस्मृताः।।"[3]

प्रतिग्रह (पडिगाहना,सामने जाकर आह्वान करना), उच्च स्थान देना, पैर धोना, अर्चा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि एवं भोजन की शुद्धि, ये नौ प्रकार की दान की विधि समझना चाहिए।

नवधाभक्ति का फल बताते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं--

"उच्चैर्गोत्रं प्रणते, र्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।।"[4]

वीतराग मुनिराज को नमस्कार करने से इन्द्रत्व आदि उच्चगोत्र, दान देने से भोगोपभोग, सेवा (पड़गाहना, उच्चस्थानदान और पादप्रक्षालन) करने से सर्वमान्य केवलीपन आदि,श्रद्धा-भक्ति करने से सुन्दररूप तथा स्तुति करने से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

1- "णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं ।
सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि ।।"--व0श्रा0,गा0-230

2- देखिए, वही, गा0-225

3- गुणभूषणश्रावकाचार, पद्य-152

4- रत्न0श्रा0, परिच्छेद पन्चम, पद्य- 115

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब- नवधाभक्तियां

भक्ति की पद्धति के भेद से भक्ति का द्वितीय विभाजन-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि नवधा-भक्तियों के रूप में किया जा सकता है। नवधा-भक्तियों की परम्परा मूलत: वैष्णवधर्म की है। किन्तु जैनधर्म में इसके तत्वों को देखा जा सकता है। नवधाभक्ति को तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम तीन-श्रवण, कीर्तन और स्मरण भक्ति तो परोक्ष में यानी उपास्यदेव की अनुपस्थिति में की जाती है। द्वितीय तीन- पादसेवन, अर्चन और वन्दन भक्ति पूर्णतया भगवान् के साक्षात् मिलने पर ही होती है किन्तु भगवान् की अनुपस्थिति में मन के भाव से उनको प्रत्यक्ष मानकर भी इनका अनुष्ठान किया जाता है। ये छ: भक्ति तो क्रियारूप हैं। शेष तीन-दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनभक्ति भावरूप हैं, क्योंकि उनमें भाव के अनुसार क्रिया होने पर भी प्राय: भाव की ही प्रधानता रहती है।

जैनेतर भक्ति सम्प्रदाय ने श्रवण को सत्सङ्ग, कीर्तन को भजन, स्मरण को ध्यान रूप दिया है। पादसेवन, अर्चन एवं वन्दन को भगवच्चरणों से सम्बन्धित बताया है। ये तीनों ही चरणों से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदन इन तीनों को एक साथ रखा गया है।[1]

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नवधाभक्तियों का जैनस्तुतिस्तोत्रों में स्वतन्त्र विशद विवेचन किया गया है। इन भक्तियों पर पृथक्-पृथक् विवेचन मैं आगे कर रहा हूं।

1- कल्याण, अंक 11, वर्ष-24, सन् 1950, पेज-1505

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1- श्रवण-भक्ति

भगवान् के नाम गुणों का श्रद्धा-प्रेम से सुनना "श्रवण" भक्ति है। आचार्य कुमुदचन्द्र ने कल्याण मन्दिरस्तोत्र में श्रवण भक्ति का सुन्दर विवेचन किया है। यथा--

"आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि।।"

"हे देव! आपके स्तवन की तो अचिन्त्य महिमा है ही, पर आपका नाममात्र भी जीवों को संसार के दुःखों से बचा लेता है। जैसे ग्रीष्मऋतु में घाम से पीड़ित मनुष्यों को कमलयुक्त सरोवर तो सुख पहुंचाते ही हैं, पर उन सरोवरों की शीतल हवा भी सुख पहुंचाती है।"[1] स्तोत्रों के अलावा कवि पुष्पदन्तने "नाभेयचरित" में भी लिखा है कि अपनी समस्त दिग्विजय के अनन्तर भरत जब आदिनाथ के सम्मुख पहुंचता है, तो अपने को एकदम व्यर्थ समझने लगता है। वह कहता है--"वे चरण सफल हैं, जो आपके तीर्थ में जाते हैं, वे ही नेत्र, नेत्र हैं जिन्होंने आपको देखा है, वही कंठ, कंठ है जिसने आपका गान किया है, वे ही कान धन्य हैं जो आपको सुनते हैं, वे हाथ, हाथ हैं जो आपकी सेवा करते हैं।"[2]

2- कीर्तन-भक्ति

श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान् की मंगलमयी कथाओं का कथन, नाम एवं गुणों का कीर्तन तथा जप करना "कीर्तन" भक्ति है। भक्तामरस्तोत्र में कवि मानतुङ्गाचार्य आराध्य के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि--

---

1- कल्याणमन्दिरस्तोत्र, पद्य-7

2- नाभेयचरित, 1/6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"हे भगवन्! आप एक अद्भुत जगत्प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है, न बाती और न धूम। पर्वतों को कम्पित करने वाले वायु के झोंके भी इस दीपक तक पहुंच नहीं सकते हैं, तो भी जगत में प्रकाश फैलता है।

"निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिता चलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ।।"[1]

कवि पुनः कहता है कि- "हे भगवन्! आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है क्योंकि आप कभी भी अस्त नहीं होते, न राहु गम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघों से अवरुद्ध होता है एवं आप समस्त लोकों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से अवगत करते हैं।"

"नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदर निरुद्ध महाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र लोके।।"[2]

3- <u>स्मरण-भक्ति</u>

भगवान् के परम प्रभावशालीमंगलमय नामरूप और गुण का ध्यान करना "स्मरण" भक्ति है। भक्तामरस्तोत्र में कवि कहता है कि--"सूर्य की बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलों को विकसित कर देती है। उसी प्रकार हे प्रभो! आपका स्तोत्र तो दूर रहे पर आपके नाम की कथा ही समस्त पापों को दूर कर देती है। यथा--

---

1- भक्तामरस्तोत्र, पद्य-16

2- देखिए, वही, पद्य-17

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण: कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभान्जि ।।"[1]

नामस्मरणभक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कवि पुन: कहते हैं कि--"हे प्रभो! संग्राम में आपके नाम का स्मरण करने से बलवान् राजाओं का भी युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियों की भयानक गर्जना से युक्त सैन्य-दल उसी प्रकार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है।" यथा--

"वल्गत्तुरङ्गगजगर्जित भीमनाद,
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति।।"[2]

4- <u>अर्चनभक्ति</u>

जैनधर्म में परमात्मा की पूजा व अर्चना साधन के रूप में ही प्रयुक्त हुई है। यह अपने आप में साध्य नहीं है। परमात्मा के गुणों की प्राप्ति के साधन के रूप में ही इसका महत्त्व है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुये आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है--

"मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुण लब्धये।।"[3]

1- भक्तामरस्तोत्र, पद्य-9

2- देखिए, वही, पद्य-42

3- त०सू०, मंगलाचरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुण का उपासक है। गुणों की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना आदर्श मानता है। जिस विधि से स्वयं उपास्य ने गुण प्राप्त किये उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणों को प्राप्त करना चाहता है यही अर्चनभक्ति का वास्तविक ध्येय और प्रयोजन है। आचार्य मानतुङ्ग भी कहते हैं कि--"हे जगत् के भूषण। हे जगत के जीवों के नाथ। आपके गुणों के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाये तो हमें कोई अधिक आश्चर्य नहीं है, ऐसा तो होना ही चाहिए, क्योंकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बना ले अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नहीं बना लेता।"[1]

5- वन्दन-भक्ति

भगवान् के श्रीचरणों में या उनके श्रीविग्रह चरणों में अनन्यभाव से प्रणाम निवेदन करना या उनकी स्तुति करना वन्दन भक्ति है। जैनधर्म गुणों का उपासक है। सद्गुणी के चरणों में शिर झुकाने को वह उपादेय मानता है और गुणहीन व्यक्ति के चरणों में झुकाने को हेय। यदि अवन्दनीय व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।

जिसका जीवन त्याग वैराग्य से ओतप्रोत है तथा निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से जिसका जीवन पवित्र व निर्मल है वह सद्गुरु है।

1- "नात्यद्भुतं भुवनभूषण। भूतनाथ।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं इह नात्मसमं करोति ॥"
-- भक्तामरस्तोत्र, पद्य-10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसका भक्तिभाव से विभोर होकर वन्दन करना चाहिए। वन्दन तो आत्मशुद्धि का मार्ग है।

श्री अकलंकदेव ने "अकलंकस्तोत्र" में उन महादेव की वन्दना की है जो पूरे संसार को हाथ की रेखाओं की भाँति देखते हैं और जिन्हें जन्म जरा मृत्यु रूप दोष स्पर्श भी नहीं कर पाता।[1]

6- पादसेवन-भक्ति

श्रद्धा, प्रेमपूर्वक भयहरण करने वाले भगवान् के पादपद्मों की पूजा ही पादसेवन भक्ति है, भगवान् की प्रतिष्ठित प्रतिमा के चरणों की पूजा।

कल्याण मन्दिर के कर्त्ता आचार्य कुमुदचन्द्र कहते हैं--"हे शरण्य! आपके चरण कमलों की सतत संचित भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हों, क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता। यथा--

"यद्यस्ति नाथ! भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्,
भक्तेः फलं किमपि सततं संचितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्यभूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ।।"[2]

वादिराजसूरि ने एकीभावस्तोत्र में कहा है-- हे भगवन्! आपके चरण कमलों की संगति को प्राप्त हुई भक्ति गंगा में जो स्नान कर लेता है उसके चित्त के समूचे पाप धुल जाते हैं।[3]

1- अकलंकस्तोत्र, पद्य-2।

2- कल्याणमन्दिरस्तोत्र, पद्य-42

3- "प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धेर्या,
देव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगङ्गा।
चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः,
कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेहभूमिः ।।"

-- एकीभावस्तोत्र, पद्य-16

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री जिनसमुद्रसूरि ने भी इसी भाव को पार्श्वनाथ स्तवन में व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि-- हे भगवन्! आपके चरणों की सेवा का रसिक मेरा मन अन्यत्र हारादिक में सन्तोष नहीं प्राप्त कर पाता। कोकिल आम्रमंजरी को छोड़कर कर्णिकार में आनन्द का अनुभव नहीं करती।"[1]

7- आत्मनिवेदन-भक्ति

अहंकारविहीन होकर स्वयं को सर्वात्मना श्रद्धापूर्वक भगवान् को समर्पित कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है।

भगवान् की महत्ता और अपनी लघुता दिखाना भक्त का मुख्य गुण है। आचार्य समन्तभद्र स्वयम्भूस्तोत्र में आत्मनिवेदन करते हैं कि-- "हे भगवन्! आप ऐसे हैं, वैसे हैं, ऐसा मुझ अल्पमति का यह स्तुतिरूप प्रलाप है। यह आपके अशेष-माहात्म्य को न जानते हुए भी, आपके गुणों का संस्पर्श करने मात्र से ही, अमृत समुद्र के स्पर्श की भाँति कल्याणपरक है।"[2]

श्री मानतुङ्गाचार्य भी कहते हैं--"हे भगवन्! मैं अल्पश्रुत हूँ और विद्वानों का परिहास धाम हूँ फिर भी आपकी भक्ति के कारण ही आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह वैसा ही है जैसे वसन्तऋतु में कोकिल आम्रकलिका के कारण ही मधुर शब्द का उच्चारण करती है। यथा--

"अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किलमधौ मधुरं विरौति,
तच्चारुचाम्रकलिकानिकरैक हेतुः ॥"[3]

1- पार्श्वनाथस्तवन, पद्य-16

2- स्वयम्भूस्तोत्र, पद्य-16

3- भक्तामरस्तोत्र, पद्य-6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8- दास्य-भक्ति

भगवान् को ही एकमात्र अपना परम सेव्य स्वामी मानकर श्रद्धापूर्वक दास्यभाव से जब भगवान् की सेवा की जाती है, तब उसे दास्य भक्ति कहते हैं।

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू में कहा है--"हे भगवन्! आपके प्रसाद से मुझे, मानवीय और दैवीय वैभव प्राप्त हुए हैं। अब मेरा हृदय आपकी सेवा के लिए उत्सुक है, उसे इसका अवसर देकर सनाथ बनाइए।"[1]

9- सख्य-भक्ति

भक्ति भावना से आप्लावित होकर भगवान् में मित्रभाव से प्रेम स्थापित करना "सख्य" भक्ति है।

जैनसाहित्य में वैष्णवभक्ति की तरह सख्य भक्ति का उल्लेख नहीं मिलता है।

4- आराध्य के आश्रय भेद से जैनभक्ति का वर्गीकरण

जैनभक्ति का चतुर्थ वर्गीकरण आराध्य के आश्रय भेद के अनुसार किया गया है। आराध्य के आश्रय भेद से जैनभक्ति छः प्रकार की है। यथा- (1) नामभक्ति, (2) स्थापनाभक्ति, (3) द्रव्यभक्ति, (4) भावभक्ति, (5) क्षेत्रभक्ति एवं (6) कालभक्ति।

1- नामभक्ति

नामोच्चारण करते हुए भगवद् गुणों का स्मरण करना नामभक्ति है।

1- यशस्तिलकचम्पू, पृ0 120

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2- स्थापनाभक्ति

मूर्ति स्थापन द्वारा जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलादि से पूजन करना तथा दर्शन करना स्थापना-भक्ति है।

3- द्रव्यभक्ति

अर्हन्त तथा सिद्ध के स्वरूप का विचार करना द्रव्यभक्ति है।

4- भावभक्ति

अर्हन्त एवं सिद्ध के भावों का विचार करना भावभक्ति है।

5- क्षेत्रभक्ति

जिन स्थानों से तीर्थंकर आदि महान् पुरुषों ने जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया है, उनके सहारे उन महान् पुरुषों के गुणों का स्मरण करना क्षेत्रभक्ति है।

6- कालभक्ति

जिस समय विशेष में तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुषों ने जन्म, तप आदि प्राप्त किया है, उस समय विशेष के द्वारा उनका स्मरण करना, उनकी भक्ति करना कालभक्ति है।[1]

इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में जैनआचार्यों ने भक्ति के भेदों को चार प्रकार से विभाजित किया है। उत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति को दो भेदों में विभक्त किया गया है। आराध्य की दृष्टि से भक्ति के बारह भेद बतलाये गये हैं। पद्धति भेद की दृष्टि से भक्ति का विभाजन दो तरह

1-(क) कल्याण, भक्ति अंक, पृ0 572

(ख) श्रमण, मार्च 1972, पृ0 32

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से हुआ है। प्रथम विभाजन में मुनि की आहार विधि के अन्तर्गत नवधाभक्ति तथा द्वितीय विभाजन में, वैदिक श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा भक्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

आराध्य के आश्रय भेद से भक्ति का विभाजन छः प्रकार से हुआ है।

इन सभी भेदों पर दृष्टि डाली जाये तो उपर्युक्त भेदों में आराध्य की दृष्टि से जो 12 भेद किये गये हैं। वे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनमें भी सिद्ध एवं अर्हन्त भक्ति प्रमुख है। सिद्ध एवं अर्हन्त भक्ति के महत्त्व को ही प्रतिपादित करने के लिए अन्य भेदों का वर्णन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ अध्याय

उपास्य देव एवं देवियाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपास्य देव एवं देवियाँ

उपास्य देव मण्डल

"देव" शब्द की व्याख्या

"देव" शब्द की व्युत्पत्ति "दिवु" धातु से हुई है जिसका अर्थ चमकने से लगाया जाता है।[1] जो जीव अपने पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप मरणोपरान्त स्वर्ग को प्राप्त होकर प्रतिभासित होता है अथवा चमकता है वह देव कहलाता है।[2] आचार्य अकलंक ने भी कहा है--"देवगतिनामकर्म के उदय होने पर बाह्य दीप्ति अथवा यथेच्छ क्रीड़ा आदि से जो दिव्य है वह देव है।"[3]

देव शब्द का प्रयोग तीर्थङ्कर आदि के लिए तथा देवगति के जीवों के लिए भी होता है। यहाँ देव शब्द से देवयोनि के जीवों को दृष्टि में रखकर विचार किया गया है। तीर्थङ्कर, सिद्ध आदि देवों के साथ दिवु

1- जैनलक्षणावली, भा० 2, पृ० 536

2- अनेकान्त, वर्ष 28, महावीर निर्वाण विशेषांक, पृ० 136-137

3- (क) "देवगतिनामकर्मोदये सति द्युत्याद्यर्थाविरोधाद् देवाः। अन्तरङ्गहेतौ देवगतिनामकर्मोदये सति बाह्यद्युत्यादिक्रियारम्भकमन्तर्नीय दीव्यन्तीति देवाः इति व्यपदिश्यन्ते।" --त०वा०, 4/1

(ख) "दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देवः, अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देवः, वा दीव्यति कोटिसूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देवः अर्हन्, वा दीव्यति धर्मव्यवहारं विदधाति देवः, वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति.... साधुपरस्तम् ।।"

--कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, 1/1/15

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धातु का अर्थ देदीप्यमानत्व तो घट सकता है किन्तु यथेच्छक्रीड़ा आदि अर्थ नहीं।[1] यथेच्छक्रीड़ा आदि अर्थ देवयोनि के देवों में ही सम्भव है। सिद्ध देव अशरीरी हैं, अनन्तचतुष्टय से युक्त हैं, संसार से पूर्ण मुक्त हैं, तटस्थ वीतरागी हैं, निन्दा, स्तुति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। तीर्थङ्करों का भी लौकिक प्रयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। कृतकृत्य होने से उनको भी भौतिक एवं सांसारिक प्रयोजनों से कोई मतलब नहीं है। तीर्थङ्करों तथा सिद्धों का देवयोनि के देवों से मुख्यत: यही अन्तर है। देवगति प्राप्त पंचेन्द्रिय संसारी त्रस जीवों की वह कोटि है जो कर्म एवं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त नहीं है। ये देवगण आठ प्रकार की सिद्धियों से युक्त होते हैं तथा अपनी इच्छानुसार मर्त्यलोक, पाताललोक, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गलोक में निवास करते हैं।[2]

सैद्धान्तिक धरातल पर यद्यपि जैनों द्वारा देवभक्ति को मिथ्याचार की संज्ञा दी जाती रही है।[3] परन्तु रागद्वेष से मुक्त और जैनशासन का रक्षण करने वाले देवता सदैव वन्दनीय रहे हैं।[4] भारतीय संस्कृति में देव शब्द बहुत प्राचीन है। चार्वाक के अतिरिक्त सभी धार्मिक परम्पराओं में देव शब्द की भिन्न-भिन्न परिकल्पनाएं हैं।

ऋग्वेद के देव प्राकृतिक शक्ति के प्रतीक हैं। उनकी आराधना में मानव जीवन की सफलता समाहित है। पौराणिक देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में आते हैं। जैनदृष्टि में देव परम समृद्ध प्राणी है किन्तु उनके साथ उपास्य और आराध्य भाव जुड़ा हुआ नहीं है।[5] जैनेतर धर्मों में

1- त0वा0, 4/1

2- देखिए, वही, 4/1

3- जैनसाहित्य और इतिहास, पृ0 297

4- छहढाला, टीका, पृ0 40, 41

5- जयभारती, वर्ष 2, अंक 8, पृ0 21

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रचलित देव प्रतीकों की पूजा का जैन भक्तों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा है। उन्होंने शास्त्रविहित न होने पर भी देव प्रतीकों को उसी प्रकार मान्यता दे दी जिस प्रकार बौद्ध भक्तों ने स्वयं महात्मा बुद्ध के द्वारा निषिद्ध होने पर भी बुद्ध प्रतिमा को मान्यता दी है।[1]

कलागत प्रतिस्पर्धा की भावना ने भी अनेक देव-प्रतीकों को जैन साहित्य में स्थान दिलाया।[2] इस प्रतिस्पर्धा का एक बहुत ही अच्छा उदाहरण तीर्थङ्कर की माता की मूर्ति का निर्माण है। शेषमयी विष्णु की और बालक बुद्ध के साथ लेटी मायादेवी की मनोहारी मूर्तियों को देखकर, ऐसी ही मुद्रा में मूल्यांकन के लिए किसी जैन पात्र की खोजन में जैनभक्त बेचैन हो उठा होगा। तीर्थङ्कर को लेटा हुआ दिखाया नहीं जा सकता, कोई देवपूजा का पात्र नहीं, कोई साधु अलंकरण और परिवार के साथ अंकित नहीं होता और किसी राजा या महापुरुष को जैन मन्दिर में मूल्यांकित नहीं किया जा सकता था। आखिर कुछ भक्तों ने तीर्थङ्कर की माता को उपर्युक्त मुद्रा में मूल्यांकित करके जैनसाहित्य एवं कला को वैष्णव और बौद्धकला से पीछे न रहने दिया। चमत्कारप्रियता भी मुख्य कारण रही है।[3] इष्टसिद्धि और अनिष्ट परिहार हेतु बहुत सी होनी-अनहोनी कथाएं और मन्त्र तन्त्र जोड़कर अनेक देव प्रतीकों को जैनकला एवं साहित्य में स्थान दिया गया है।

राजनीतिक प्रभाव ने भी देव प्रतीकों को जैनसाहित्य में स्थान दिया है। जैनदेव मण्डल का प्रारम्भिक स्वरूप लगभग दो हजार वर्ष पुराने अर्धमागधी आगमतिलोयपण्णत्ती के पूर्ववर्ती "लोकविभाग" नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत मिलता है।[4] इस ग्रन्थ में देवयोनि के देवताओं का विस्तृत विवेचन हुआ है।

1- जैनकला में भारतीय देव प्रतीकों का रूपान्तर, पृ0 339, 340

2- देखिए, वही

3- अनेकान्त, वर्ष 11, अंक 8, पृ0 36

4- तिलोयपण्णत्ति, भाग-2, 6/33-98

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवों के भेद

देवों की चार श्रेणियां हैं[1]- भवनवासी (एक स्थल पर अथवा भवनों में निवास करने वाले), व्यन्तर या वाणव्यन्तर(भ्रमणशील, वृक्षादि में निवास करने वाले यक्षादि), ज्योतिष्क (सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्र से सम्बन्धित) और वैमानिक (विमानों में रहने वाले स्वर्ग के देवता)।

भवनवासी देव के भेद

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं-- असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।[2]

इन सभी देवों का वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनका वेष, भूषा, शस्त्र, वाहन, यान और क्रीड़ा आदि कुमारों के समान होती है इसलिए सब भवनवासियों में कुमार शब्द प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है। रत्नप्रभा के पंकबहुल भाग में असुरकुमारों के भवन हैं। खर पृथ्वी भाग के ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष भाग में शेष नव कुमारों के भवन हैं। सभी कुमारों के कुल मिलाकर सात करोड़ 72 लाख भवन हैं।[3]

व्यन्तरों के भेद

व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं-- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व,

---

1- "देवाश्चतुर्णिकाया:। के पुनस्ते। भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति।" -- स०सि०, 4/1

2- "भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा:।" -- त०वा०, 4/10

3- देखिए, वही, 4/10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।[1] जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास है वे व्यन्तर देव कहलाते हैं। इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप और समुद्र पारकर ऊपर के खर पृथ्वी भाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास हैं तथा पंकबहुल भाग में राक्षसों के आवास हैं।[2]

ज्योतिष्कों के भेद

ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं-- सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे।[3] प्रकाश स्वभाव होने से ये ज्योतिष्क कहलाते हैं। इन देवों का आवास कहां पर है। इस भूमितल से सात सौ नव्वे योजन ऊपर जाकर तारकाएं विचरण करती हैं जो सब ज्योतिषियों के अधोभाग में स्थित हैं। इससे 10 योजन ऊपर जाकर सूर्य विचरण करते हैं। इससे 80 योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं। इससे 4 योजन ऊपर जाकरके नक्षत्र हैं। इससे 4 योजन ऊपर बुध हैं। इससे तीन योजन ऊपर शुक्र हैं। इससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति हैं। इससे तीन योजन ऊपर मंगल हैं। इससे 3 योजन ऊपर जाकर शनीचर है। यह ज्योतिषियों से व्याप्त नभःप्रदेश एक सौ दस योजन मोटा और घनोदधिपर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्रप्रमाण लम्बा है। ज्योतिषी देव मनुष्यलोक में मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले और निरन्तर गतिशील हैं। मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।[4]

1- "व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः।।"
-- त0सू0, 4/11

2- त0वा0, 4/11

3- "ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च।"
-- त0सू0, 4/12

4- त0वा0, 4/12

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैमानिकों के भेद

वैमानिक देवों के दो भेद हैं-- कल्पोपपन्न और कल्पातीत।[1] इन्द्र आदि दश प्रकार की कल्पनाएं जिनमें पाई जायें वे कल्पोपपन्न तथा जहां सभी "अहमिन्द्र" हों वे कल्पातीत कहलाते हैं।[2]

कल्पोपपन्न 12 प्रकार के हैं। यथा--सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, महाशुक्र, सहस्र, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।[3]

उपाधियां

कल्पातीत निरुपाधिक हैं और कल्पोपपन्न सोपाधिक हैं। उपाधियां 10 प्रकार की हैं[4]-- इन्द्र (अन्य देवों में नहीं पाया जाने वाला अणिमा आदि ऋद्धिरूप ऐश्वर्य वाला इन्द्र है), सामानिक (जिनके स्थान आयु, वीर्य, परिवार भोगादिक तो इन्द्र के ही समान हों, परन्तु आज्ञा ऐश्वर्य इन्द्र के समान नहीं हो और जिनको इन्द्र अपने पिता, उपाध्याय के समान पूज्य माने, उन्हें सामानिक देव कहते हैं), त्रायस्त्रिंश (मन्त्री, पुरोहित के समान शिक्षा देने वाले, पुत्र के समान प्रिय पात्र और जिनको देखने या वार्तालाप करने से इन्द्र के मन को आनन्द होता है उनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं), परिषद (जो इन्द्र की बाह्य, अभ्यन्तर और मध्य की तीनों प्रकार की सभाओं में बैठने योग्य सभासद हैं, उन्हें परिषद कहते हैं), आत्मरक्ष (इन्द्र की सभा में जो शस्त्र धारण किये हुए इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं, वे आत्मरक्ष हैं), लोकपाल (कोटपाल के समान जो होते हैं, उन्हें लोकपाल कहते हैं), अनीक

1- "कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च।" --त0सू0, 4/17

2- त0वा0, 4/17

3- "सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र-शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्त-जयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थ सिद्धौ च।" -- त0वा0 4/19

4- स0सि0, 4/4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(जो पियादा, अश्व, वृषभ, रथ, हस्ती, गन्धर्व और नर्तकी के रूपों को धारण करते हैं, वे अनीक हैं), प्रकीर्णक (प्रजा के समान प्रीति के करने वाले देवों को प्रकीर्णक कहते हैं), आभियोग्य (जो सेवकों के समान हाथी, घोड़ा, वाहन बनकर इन्द्रादिक की सेवा करते हैं, उन्हें आभियोग्य कहते हैं) और किल्विषिक (दूर रहने वाले तथा इन्द्रादिक देवों के सन्मानादिक के अनधिकारी बाहर खड़े रहने वाले किल्विषिक हैं)।[1]

इस तरह देवताओं का विभाजन जैनपरम्परा में मिलता है, परन्तु इन सभी देवों की आराधना का प्रचलन जैनपरम्परा में नहीं मिलता है। इनमें वैमानिक देवों की पूज्यता सामान्यरूप से स्वीकृत है, परन्तु यहां कुछ ऐसे देवों का विचार प्रस्तुत है जिनकी मूर्तियां आदि मिलती हैं, तथा जिन्होंने विशेषरूप से लोकानुरोध से जैनधर्म की प्रभावना बढ़ाने में योगदान दिया है।

1- इन्द्र

वैमानिक देवों के राजा को इन्द्र कहते हैं।[2] विमानों में रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं।[3] विमानों के तीन भेद हैं-- इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक। अन्य विमानों के मध्य में रहने वाले विमान को इन्द्रक, उसकी चारों दिशाओं में कतारबद्ध स्थित विमानों को श्रेणीबद्ध और यत्र-तत्र पुष्पों की भांति बिखरे विमानों को पुष्पप्रकीर्णक कहते हैं।[4] वैमानिक देवों

1- (क) "इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः।" --त०वा०, 4/4

(ख) स०सि०, 4/4

2- त०वा०, 4/4

3- देखिए, वही, 4/16

4- देखिए, वही, 4/16

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के दो भेद हैं-- कल्पोपपन्न और कल्पातीत।[1] सोलह स्वर्ग कल्प हैं, क्योंकि उनमें इन्द्र की कल्पना है और उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि कल्पातीत कहलाते हैं, उनमें इन्द्र की कल्पना नहीं है। सोलह स्वर्गों में से पहले और अन्तिम चार स्वर्गों में एक-एक तथा मध्य के आठ स्वर्गों में दो-दो के एक-एक इन्द्र की मान्यता है।[2]

जैनसाहित्य में वर्णित देव मण्डल में इन्द्र का महत्त्व अत्यधिक पाया जाता है। तीर्थङ्कर के भक्तों में इन्द्र का सर्वोत्तम स्थान है। तीर्थङ्कर के गर्भ में आने से छः माह पूर्व ही रत्नों की वर्षा, जन्म के समय एक हजार आठ कलशों से स्नपन और केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर समवशरण की रचना, इन्द्र की तीर्थङ्कर-भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैन काव्यों में भक्ति के ये दृष्टान्त भावोन्मेष के साथ प्रकट किये गये हैं। जैनपुरातत्त्व में भी तीर्थङ्कर की मूर्तियों के साथ, चंवर स्वागत हेतु इन्द्र और इन्द्राणियों के चित्र अंकित हैं। विन्ध्यगिरि के गोम्मटेश के अभिषेक के लिए, हाथ में कलश लिये हुए इन्द्र की मूर्ति है।[3]

बहुत पुराने समय से जैन लोग इन्द्र की भक्ति में इन्द्र महोत्सव मनाते चले आ रहे हैं। निशीथचूर्णि में चार बड़े उत्सवों (महामहों) का उल्लेख है और वे इन्द्रमह, खन्दमह, जक्खमह और भूयमह के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्दमह आषाढ़ की पूर्णमासी की रात में मनाया जाता है।[4] उत्तराध्ययन के भाष्य में लिखा है कि काम्पिल्य का राजा दुमुह इन्द्रमहोत्सव धूम-धाम से मनाता था। यह उत्सव आषाढ़ पूर्णमासी के सात दिन पहले से प्रारम्भ हो जाता था।

1- "कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च।" -स०सि०, 4/17

2- स०सि०, 4/16-19

3- बृहत्कल्पभाष्य 4, पृ० 5153

4- अन्तगडदसाओ, 6, पृ० 40

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्णमासी के दिन राजा इन्द्र के ध्वजा की वन्दना करता था। राजा की ओर से अतुल दान और भोज भी दिया जाता था।[1] बृहत्कल्प भाष्य के अनुसार हेमपुर भी इन्द्र महोत्सव के लिए एक प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ "इन्दत्थान" के चारों ओर कुलीन वंशों की पाँच सौ कन्याएँ हाथों में फल और डालियों को लेकर एकत्रित होती थीं और सभी इन्द्र से अपने सौभाग्य की याचना करती थीं।[2] पोलसपुर के इन्द्रमहोत्सव में नारियाँ नृत्य करती थीं। वहाँ किसी कुमारी कन्या के सौभाग्य की याचना विफल हुई हो, ऐसा सुनने में नहीं आया।[3]

"इन्द्रमहोत्सव" के प्रारम्भ से सम्बन्धित एक कथा "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित" में दी हुई है।[4] इन्द्रमहोत्सव से सम्बन्धित कथा आवश्यकचूर्णि[5] और वसुदेवहिण्डी[6] में भी दी हुई है।

2- धरणेन्द्र

जैनसाहित्य में धरणेन्द्र देव को तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का शासन देव माना गया है। धरणेन्द्र को धारन[7] तथा पार्श्व यक्ष[8] भी कहा गया है। यहाँ

1- जैनशिलालेख संग्रह, भा0 1, भूमिका, पृ0 35

2- निशीथचूर्णि, 19, पृ0 1174

3- उत्तराध्ययनसूत्र, भाष्य 8, पृ0 139

4- त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1/6/214-25

5- आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध- 21350

6- वसुदेवहिण्डी, पृ0 184
तथा देखिए, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा0 1, पृ0 313

7- अभिधानचिन्तामणि, 1/45

8- तिलोयपण्णत्ति, भा0 1, 4/436

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यक्ष शब्द का प्रयोग "जिनशासन की रक्षा" करने के अर्थ में हुआ है।[1] जैनशास्त्रों के अनुसार धरणेन्द्र नागकुमारों के दक्षिणी भाग का राजा है।[2]

रूपरेखा

"पार्श्वनाथचरित्र" में धरणेन्द्र की रूपरेखा का वर्णन इस प्रकार से हुआ है—"भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थ में उत्पन्न होने वाला पार्श्व यक्ष कृष्णवर्ण और चार भुजाओं को धारण करता है। उसके सिर पर सदैव कोबरा सर्पों का छत्र लगा रहता है। उसका मुंह हाथी जैसा और वाहन कच्छप है।"[3] धरणेन्द्र ने तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की असुर भूतानन्द के भीषण उपसर्गों से रक्षा की थी।[4] अपने महिमावन्त कार्यों के कारण ही धरणेन्द्र को मोक्ष प्राप्त हुआ था।[5] धरणेन्द्र को भैरव भी कहते हैं। "भैरवपद्मावतीकल्प" धरणेन्द्र को भैरव मानकर ही चला है। देवी पद्मावती भैरवी कहलाती है। किसी शास्त्रीय प्रमाण के न होते हुए भी जैनपरम्परा दोनों को पति-पत्नी के रूप में मानती आयीहै।

माहात्म्य

जैनों ने पद्मावती के साथ धरणेन्द्र की भी भक्ति की है।[6] भद्रबाहु स्वामी के "उवसग्गहरस्तोत्र" का प्रारम्भ धरणेन्द्र की स्तुति से ही हुआ है।

1- श्रीपार्श्वनाथचरित्र, 12/42

2- त०सि०, भाष्य, 4/6

3- पार्श्वनाथचरित्र, पद्य-4।

4- उत्तरपुराण, 73/139, 140

5- श्रीपार्श्वनाथचरित्र, 12/41
तथा देखिए, महापुराण, पद्य- 74, 101, 139, 141

6- भैरवपद्मावतीकल्प, 3/39,40

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्मावती से सम्बन्धित जैनसाहित्य और पुरातत्त्व धरणेन्द्र से भी सम्बन्धित है। मुनि कान्तिसागर ने लिखा है कि यक्षों की मूर्तियों में, "पार्श्वयक्ष" को पहचानने में प्राय: लोग भूल कर जाते हैं, उसका कारण है कि पार्श्वयक्ष की मुखाकृति, उदर और आयुध आदि सभी कुछ गणेश के समान होता है। फिर भी उनका व्यक्तित्व निराला है और कुछ विशिष्ट चिह्नों से स्पष्ट प्रकट हो जाता है।[1]

3- लोकान्तिक देव

वैमानिक देवों में लोकान्तिक देवों का महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित स्थान है। ये आठ प्रकार के हैं। यथा- सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट।[2] ये सभी समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं। सभी स्वतन्त्र होते हैं, किसी इन्द्र के अधीन नहीं रहते।[3]

रूपरेखा

ये देव देवर्षि कहे जाते हैं। ऋषियों के समान ही उनका कर्मचेत, प्रवृत्ति शुभ और भाव वीतरागता से पूर्ण होते हैं। अन्य देव उनका सम्मान

1- खण्डहरों का वैभव, पृ0 42

2- "सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।"

--त0सू0, 4/25

3- "एते सर्वे स्वतन्त्रा: हीनाधिकत्वाभावात् । विषयरतिविरहाद-
देवर्षय इतरेषां देवानामर्चनीया:, चतुर्दशपूर्वधरा: ।"

--स0सि, 4/25

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं। वे चौदह पूर्वों (भगवान्, महावीर से पहले का साहित्य) के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे तीर्थङ्करों के अन्य किसी उत्सव में न जाकर केवल वैराग्य के समय ही जाते हैं।[1] तीर्थङ्कर में वैराग्यभाव को अधिकाधिक पुष्ट करना इन्हीं का काम है।

माहात्म्य

जैन लोग लौकान्तिक देवों की निरन्तर पूजा-स्तुति करते आये हैं। आचार्य जिनसेन ने लौकान्तिक देवों को भक्त और स्तुत्य दोनों ही रूपों में प्रस्तुत किया है। जन्मजरामरण से व्याप्त लोक संसार का अन्त करना लौकान्तिक देवों का प्रयोजन है।[2]

4- सूर्य

सूर्य ज्योतिषी देवमण्डल के अन्तर्गत आता है।[3] "ज्योतिस्स्वभावत्वात्" ही वह ज्योतिषी कहलाता है।[4] जैन शास्त्रों के अनुसार सूर्य तारागणों से दस योजन ऊपर रहता है। उससे ही व्यवहारिक काल-गणना की जाती है।[5] वह सदैव मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करता रहताहै।[6] सूर्यलोक

1- (क) त०वा०, 4/24,25 (ख) तिलोयपण्णत्ति, 8/676

2- "जन्मजरामरणाकीर्णो लोक:संसार:, तस्यान्तोलोकान्त:। लोकान्ते भवा लौकान्तिका:।" -- स०सि०, 4/24

3-"ज्योतिष्का: सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च।" त०सू०, 4/12

4- त०सू०, 4/13,14

5- देखिए, वही

6- "मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयो नृलोके।" -- त०सू०, 4/13

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के जिनभवन सूर्यकान्त मणियों से जड़े रहते हैं। इनमें स्थित जिन-प्रतिमाओं की पूजा-भक्ति भी विविध प्रकार से होती रहती है।[1] तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक टीका में सिद्ध किया गया है कि सूर्यादिक ही मेरु के आसपास प्रदक्षिणारूप भ्रमण करते हैं। जम्बूद्वीप में दो सूर्य दो चन्द्रमा हैं, लवणसमुद्र में चार सूर्य और चार चन्द्रमा हैं। धातकी द्वीप में 12 सूर्य और 12 चन्द्रमा हैं। कालोदधि समुद्र पर 42 सूर्य और 42 चन्द्रमा हैं और पुष्करार्द्ध में 72 सूर्य और 72 चन्द्रमा हैं। इसप्रकार अढ़ाई द्वीप में पांच स्थानों पर एक सौ बत्तीस चन्द्रमा और इतने ही सूर्य हैं। ये सब ग्रह नक्षत्र तारादिगण सहित मेरु के चारों तरफ फिरते हैं। अढ़ाई द्वीप से बाहर के सूर्य चन्द्रमादि के सब ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं।[2]

5- यक्ष

जैनसाहित्य में चौबीस तीर्थङ्करों के बाद यक्षों को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली है। यक्ष व्यन्तरों जाति के देवों की उपजाति है। वे नरक की रत्नप्रभापृथ्वी के खरभाग में रहते हैं।[3] तथा मनुष्यलोक में भी रहते हैं। वृक्षादि जीर्ण शीर्ण खण्डहरों या मन्दिरों में निवास करते हैं।

रूपरेखा

वेद तथा जैमिनीय ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में यक्ष शब्द का

1- तिलोयपण्णत्ति, 7/7।

2- त०वा०,टीका, 4/14,15

3- "क्व पुनस्तेषामावासा इति चेद् । उच्यते- अस्माज्जम्बूद्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य उपरिष्टे खरपृथिवीभोग सप्तानां व्यन्तराणामावासा:। राक्षसानां पङ्कबहुलभागे।" — स०सि०, 4/11।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयोग केवल आश्चर्यजनक अथवा भयानक अर्थ में हुआ है।[1] बौद्धों के महावंस में सिलोन के आदिम निवासियों को यक्ष बताया गया है। बौद्ध जातकों में बताया गया है कि यक्षों की कभी पलक नहीं लगती, उनकी आंखें लाल होती है। उनकी परछाई नहीं पड़ती, शरीर उनका ताड़वृक्ष के समान लम्बा होता है, दांत शलजम जैसे होते हैं। चोंच श्येन पक्षी के समान होती है। ये जंगलों और एकांत स्थानों में निवास करते हैं।[2]

जैनसाहित्य में यक्ष के स्वरूप का वर्णन इसप्रकार से किया गया है-- जो वर्ण से श्याम, गम्भीर, तुन्दिल (विशाल उदरवाले) और मनोहर होते हैं, जिनका दर्शन रुचिकर होता है, जो मान व उन्मान प्रमाण से युक्त होते हैं, जिनके हस्ततल, पादतल, नख, तालु, जीभ और ओष्ठ लाल होते हैं। जो चमकते हुए मुकुट के धारक होते हैं, अनेक रत्नों से विभूषित होते हैं तथा वटवृक्ष की ध्वजा से लांछित होते हैं वे यक्ष कहलाते हैं।[3]

1- यक्ष, ए.के. कोमारस्वामी, पृ0 13

2- प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, आर0 मेहता, पृ0 324

3- "यक्षा: श्यामावदाता गम्भीरास्तुन्दिला वृन्दारका: प्रियदर्शना मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वोष्ठा भास्वरमुकुटधरा नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजा:।"

-- तत्वार्थाधिगमभाष्य, 4/13

तथा देखिए, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, वृत्ति 58

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यक्ष- यक्षिणियों का पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी जाति

जैनतीर्थङ्करों के 24 यक्ष और 24 यक्षिणियों की मान्यता मिलती हैं। इन यक्ष और यक्षिणियों के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासाएं उठती हैं जिनका समाधान आवश्यक है। उदाहरणत:--

(1) ये यक्ष-यक्षिणी किस देव निकाय या देवों की किस जाति के होते हैं?

(2) इन यक्ष-यक्षिणियों का परस्पर में क्या सम्बन्ध होता है, अर्थात् ये युगल पति-पत्नी होते हैं अथवा नहीं?

यहाँ यक्ष शब्द से किसी एक ही जाति के देवों का ग्रहण नहीं होता। यक्ष शब्द तीर्थङ्करों के सेवक या शासन रक्षक के अर्थ में लिया गया है, ऐसा देवता देवों के किसी निकाय का हो उसकी किसी भी जाति का हो। यक्ष देवों की एक जाति होती है और यक्ष जाति ज्योतिष्क निकाय को छोड़कर शेष सभी निकायों में प्राप्त होती है।

व्यन्तर देवों में आठ जातियाँ होती हैं-- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।[1] इनमें यक्ष व्यन्तर देवों की एक जाति मानी गई है। ये भी बारह प्रकार के होते हैं-- मणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, स्वरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण।[2] इनमें माणिभद्र और पूर्णभद्र ये दो इन्द्र होते हैं।

पिशाच जाति के व्यन्तरों में भी यक्ष नामक देव होते हैं। पिशाच देवों के 14 भेद बतलाये गये हैं-- कूष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, संमोह, तारक,

---

1- त०सू०, 4/11

2-(क) तिलोयपण्णत्ति, 6/42

(ख) त्रिलोकसार, पद्य- 265, 266

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशुचिकाल, महाकाल, शुचि, सतालक, देव, महादेव, तूष्णीक और प्रवचन।[1] छः दिशाओं के छः रक्षक देव होते हैं-- विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, अनावर्त और आवर्त।[2] ये भी यक्ष कहे जाते हैं।

24 यक्षों के नामों में किन्नर, गन्धर्व, कुबेर और वरुण ये नाम भी सम्मिलित हैं। किन्नर और गन्धर्व ये व्यन्तर निकाय के देवों के भेद हैं। अतः ये दोनों व्यन्तर देव होने चाहिये। कुबेर और वरुण ये दोनों लोकपाल देव हैं। चारों दिशाओं की रक्षा करने वाले देवों को लोकपाल कहते हैं। चारों दिशाओं की रक्षा करने वाले चार लोकपाल होते हैं-- सोम, यम, वरुण और कुबेर। ऐसे लोकपाल भवनवासियों और कल्पवासियों में अर्थात् दोनों निकायों में होते हैं। भवनवासियों[3] में प्रत्येक इन्द्र के पूर्वादिक दिशाओं के रक्षक क्रम से सोम, यम, वरुण और धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते हैं। इसप्रकार भवनवासियों में 40 लोकपाल होते हैं। इसीप्रकार वैमानिक[4] देवों में भी चार-चार लोकपाल होते हैं। ये लोकपाल सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतव, महाशुक्र, सहस्रार और आनतादि चार इन सब इन्द्रों के चार-चार होते हैं-- सोम, यम, वरुण और कुबेर। सौधर्म इन्द्र के लोकपाल नियम से द्विचरमशरीरी होते हैं।

1- (क) तिलोयपण्णत्ति, 6/48, 49

(ख) त्रिलोकसार, पद्य-271, 272

2- प्रतिष्ठासारोद्धार, 3/196-201

3- "पत्तेक्क इंदयाणं" सोमो यम वरुण धणद णामा य।

पुव्वादि लोयपाला हवंति चत्तारि-चत्तारि।।

--तिलोयपण्णत्ति, 3/71।

4- देखिए, वही, 8/287-299

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुबेर और वरुण नामक यक्ष लोकपाल थे। वे या तो भवनवासी थे अथवा कल्पवासी। धरणेन्द्र और पद्मावती भवनवासी देवों की नागकुमार जाति के उत्तरश्रेणीय इन्द्र-इन्द्राणी हैं।

पुराणों आदि में विभिन्न स्थलों पर यक्षों के भिन्न-भिन्न कार्यों का उल्लेख मिलता है, जैसे यक्षेन्द्र चार धर्मचक्रों को समवशरण में धारण करते हैं। यक्ष तीर्थङ्करों को 64 चमर ढुलाते हैं। समवशरण में यक्ष और यक्षिणी भगवान् के निकट रहते हैं।

सर्वाह्न[1] यक्ष, गज पर आरूढ़ होकर मस्तक पर धर्मचक्र रखकर दोनों हाथों से उसे पकड़ रखता है और दो हाथ जोड़े हुए विहार के समय भगवान् के आगे चलता है। सर्वाह्न यक्ष किस जाति का देव है, यह ज्ञात नहीं हो पाया। सम्भवतः वह व्यन्तर जाति का होगा। धर्मचक्र को धारण करने वाले यक्षेन्द्र भी व्यन्तर जाति के होते हैं।

प्राचीन समय में लोग पुत्रोत्पत्ति के लिए यक्षाराधन करते थे। नायाधम्मकथा में इसप्रकार का उल्लेख आया है।[2] कल्पसूत्र में हरिणगमेषी यक्ष द्वारा ही महावीर का गर्भ परिवर्तन किये जाने का उल्लेख है।[3] मथुरा

1- उत्तुंगं शरदभ्रशुभ्रमुचित सद्विभ्रमं विभ्रतं,
यो दिव्यद्विपमारुरोह शिरसि श्री धर्मचक्रं दधौ।
हस्ताभ्यामासितद्युति करयुगेनान्येन बद्धांजलिं,
तं जैनाध्वररक्षणक्षममिमं सर्वाह्नयक्षं यजे ।।
-- प्रतिष्ठातिलक, पृ० ९९

2- णायाधम्मकहा, अ० १, पृ० 127

3- तीर्थङ्करपत्रिका, अंक 10, सन् 1979, वर्ष १, पृ० 10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के जैन शिलालेखों में उसको "भगवा नेमेलो" कहा गया है।[1] वसुदेवहिण्डी में यक्ष प्रतिमाओं और उनकी पूजा का उल्लेख है।[2] आचार्य वसुनन्दि ने, जो 11-12वीं शताब्दी के विद्वान् हैं, प्रतिष्ठा सार संग्रह नामक प्रतिष्ठा-ग्रन्थ में तीर्थङ्कर प्रतिमा के साथ यक्ष-यक्षी को अनिवार्य बताते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, जो इसप्रकार है-- "दक्षिण पार्श्व में यक्ष और वाम पार्श्व में शासन देवता की स्थापना करे तथा पाद पीठ के नीचे जिस तीर्थङ्कर का जो चिह्न हो, वह उत्कीर्ण करावे। यक्षों और शासन देवियों की मूर्ति सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित, उनके वाहनों और आयुधों से युक्त तथा सर्वांग सुन्दर बनावे।"[3] इसीप्रकार पं० आशाधर ने-जो 13वीं शताब्दी के विद्वान् हैं-- भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा--"अर्हन्त प्रतिमा रौद्र आदि 12 दोषों से रहित हो, अशोक वृक्षादि अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त हो तथा उसके दोनों पार्श्वों में यक्ष-यक्षिणी हों।"[4]आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक में जिनेन्द्र प्रतिमा के साथ यक्ष-यक्षिणी की स्थापना का विधान

1- जैनसिद्धान्तभास्कर, भा० 17, किरण 2, पृ० 108

2- वसुदेवहिण्डी, पृ० 72

3- "यक्षं च दक्षिणे पार्श्वे वामे शासन देवताम् ।
   लांछनं पादपीठाधः स्थापयेद् यस्य यद्भवेद ।।
   यक्षाणां देवतानान्च सर्वालङ्कारभूषितम् ।
   स्ववाहनायुधोपेतं कुर्यात्सर्वाङ्गसुन्दरम् ।।"
   -- व०श्रा०, 5/12 तथा 4/71

4- "रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुत ।"
   --प्रतिष्ठासारोद्धार, पद्य- 48

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वागत परम्परा के अनुसार किया है।[1] प्रतिष्ठातिलक में यक्षों को जिन शासन में रक्षा-परायण और सदा भव्यजनों का पक्ष लेने वाला बताया गया है।[2] इसी प्रकार आचार्य सोमदेव[3], आचार्य यतिवृषभ[4] आदि ने भी यक्ष-महत्ता तथापूजा का उल्लेख किया है।

64 चमर व्यन्तर जाति के यक्ष ढुलाते हैं। शेष यक्ष-यक्षिणी किस निकाय या जाति के देव हैं, इस प्रश्न का उत्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

इसी प्रकार दूसरा प्रश्न कि प्रत्येक यक्ष-यक्षिणी युगल का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह भी अनसुलझा ही रह जाता है। किसी प्रतिष्ठाशास्त्र में अथवा दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता।

1- इन्द्रो जिनेन्द्रोत्तम शासनस्यत्राणे प्रवीणं प्रतिशासनार्हम् ।
न्यायुंक्त सत्कृत्ययमादरात्तं न्यसामि यक्षं जिनसव्यभागे ।।
लब्धाधिकारां जिनशासनस्य त्राणेतल: शासनदेवतेति ।
रूढां भुवि प्रौढतरप्रभावां न्यसामि यक्षीं जिनवामभागे ।।"
— प्रतिष्ठातिलक, पृ० 98

2- "यक्षं यजामो जिनमार्गरक्षादक्षं सदा भव्यजनैक पक्षम् ।
निर्दग्धनि:शेषविपक्षवक्षं प्रतीक्ष्यमत्यक्षसुखे विलक्षणम् ।।
--देखिए, वही, पृ० 92

3- उपासकाध्ययन, 39/698

4- तिलोयपण्णत्ति, भा० 2, 7/48, 49
तथा देखिए,
सागरधर्मामृत, 3/7, विविधतीर्थकल्प, 1/94, 95,
हरिवंशपुराण, 6/20, धवलापुराण, पद्य-13,
जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भा० 3, पृ० 384

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल धरणेन्द्र और पद्मावती के सम्बन्ध में उत्तरपुराण आदि शास्त्रों में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि वे भवनवासी निकाय की नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी थे। इसके अतिरिक्त शेष 23 यक्ष-यक्षिणी भी क्या इसीप्रकार पति-पत्नी थे अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

तीर्थङ्करों के सहायक यक्ष

24 तीर्थङ्करों के क्रमश: 24 यक्षों के नाम के सम्बन्ध में शास्त्रों में कुछ मतभेद है। दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रों में इनके जो नाम उपलब्ध होते हैं, वे यहां दिये जा रहे हैं। यक्षों के नाम इसप्रकार हैं--

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार[1]-- (1) गोवदन, (2) महायक्ष, (3) त्रिमुख, (4) यक्षेश्वर, (5) तुम्बरु, (6) मातंग, (7) विजय, (8) अजित, (9) ब्रह्म, (10) ब्रह्मेश्वर, (11) कुमार, (12) षण्मुख, (13) पाताल, (14) किन्नर, (15) किम्पुरुष, (16) गरुड़, (17) गन्धर्व, (18) कुबेर, (19) वरुण, (20) भृकुटि, (21) गोमेध, (22) पार्श्व, (23) मातंग और (24) गुह्यक।

वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासार संग्रह के अनुसार[2]--(1) गोमुख, (2) महायक्ष, (3) त्रिमुख, (4) यक्षेश्वर, (5) तुंबर, (6) पुष्प, (7) मातंग, (8) श्याम, (9) अजित, (10) ब्रह्म, (11) ईश्वर, (12) कुमार, (13) चतुर्मुख, (14) पाताल, (15) किन्नर, (16) गरुड़, (17) गन्धर्व, (18) खेन्द्र (19) कुबेर, (20) वरुण, (21) भृकुटि, (22) गोमेद, (23) धरण और (24) मातंग।

आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार[3] में सभी नाम वसुनन्दि के अनुसार हैं। केवल 13वें यक्ष का नाम षण्मुख है। हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि[4] में

1- तिलोयपण्णत्ति, भा० 2, 6/42, 43
2- अनेकान्त, वर्ष 27, अंक 4, पृ० 24
3- देखिए, वही
4- देखिए, वही, पृ० 25

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौथा यक्ष यक्षनायक, छटवां सुमुख, आठवां विजय, ग्यारहवां यक्षेश्वर, तेरहवां षण्मुख, अठारहवां यक्षेन्द्र, तेईसवां पार्श्व। शेष नाम वसुनन्दि के समान हैं।

वर्धमानसूरिकृत आचार दिनकर के अनुसार[1]-- चौथा यक्षेश्वर, छठवां कुसुम, शेष नाम साधारण परिवर्तन के साथ अभिधान चिन्तामणि के समान है।

अपराजित पृच्छा के अनुसार[2]- पहला वृषमुख, चौथा चतुरानन, नौवां जय, ग्यारहवां किन्नरेश। शेष नाम आचारदिनकर के समान हैं।

यक्षों के जो नाम विभिन्न दिगम्बर श्वेताम्बर ग्रन्थों में दिये गये हैं, उनमें विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु इन शास्त्रों में दिये गये नामों से तिलोयपण्णत्ती में दिये गये नामों में भारी अन्तर है। क्रमसंख्या की दृष्टि से उसके प्रारम्भिक पांच नाम ही अन्य ग्रन्थों से मिलते हैं। शेष नामों में क्रम भंग है। तिलोयपण्णत्ति में जो नाम छठवें स्थान पर है, वह अन्य ग्रन्थों में सातवें स्थान पर है। यह अन्तर अन्त तक है। तिलोयपण्णत्ती में चौबीसवें यक्ष का नाम गुह्यक दिया है, किन्तु इस नाम का कोई यक्ष अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। इस असंगति का कारण यह है कि तिलोयपण्णत्ती में छठवें नम्बर के यक्ष का नाम छूट गया, जिससे क्रमभंग हो गया और अन्त में चौबीस संख्या पूरी करने के लिए गुह्यक नामक एक यक्ष की कल्पना करनी पड़ी। यह भूल मूलग्रन्थ की है अथवा प्रतिलिपिकारों और सम्पादकों की, इस सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

1- अनेकान्त, वर्ष 27, अंक 4, पृ० 25

2- देखिए, वही, पृ० 26

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

:6: भूत

जैनसाहित्य में भूत को भी देवमण्डल के अन्तर्गत रखा गया है। जैन लोग उनकी पूजा करते रहे हैं। प्रो0 जैकोबी ने लिखा है कि--"साधारणतया भूतप्रेतों के प्रति जैनों का वही भाव था जो हिन्दुओं का, हाँ, उन्होंने भूतों को जैन साँचे में ढाल लिया था।"[1]

रूपरेखा

भूत को व्यन्तर नामक देव मण्डल के अन्तर्गत रखा गया है।[2] जो व्यन्तर देव वर्ण से श्याम, सुन्दर, प्रियदर्शन, कुछ स्थूल, अनेक प्रकार के विलेपनों से सहित और लाल वर्णवाली ध्वजा से युक्त होते हैं, उनका नाम भूत है।[3]

निशीथचूर्णि में जिन चार बड़े उत्सवों का उल्लेख है, उनमें एक भूतमह भी है। अर्थात् जैन लोग भूतों को प्रसन्न करने के लिए महोत्सव मनाते थे। उत्तराध्ययनसूत्र[4] से भी स्पष्ट है कि भूतमह प्राचीनकाल का एक विशिष्ट पर्व था। किन्तु जैनों ने भूतों की पूजा, केवल उनके विघ्नों को दूर करने के लिए ही की, उन्हें प्रसन्न कर वरदान माँगने के लिए नहीं। भूतों

1- प्रज्ञा, अंक 6, वर्ष 1972, पृ0 26

2- त0वा0, 4/11

3- "भूता: श्यामा: सुरूपा: सौम्या: आपीवरा नानाभक्तिविलेपना: सुलसध्वजा: काला: ।" --तत्वार्थाधिगमभाष्य, 4/12

4- उत्तराध्ययनसूत्र, 36/205

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का उपद्रव दूर करने के लिए अनेक जैन मन्त्रों की रचना हुई। "भैरवपद्मावतीकल्प" का एक पूरा सर्ग भूतों के मन्त्रों से ही युक्त है।[1]

7- नैगमेषी

नैगमेषी गर्भधारण के देवता हैं। उनकी सद्कृपा से बन्ध्याएं भी गर्भवती हुई हैं। नैगमेषी के वरदान से सुलसा नामक स्त्री गर्भधारण कर सकी थी।[2] भगवान् महावीर के भ्रूण को ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित करने के प्रसंग में भी नैगमेषी देव का उल्लेख आया है।[3]

विभिन्न नाम

नैगमेषी को नायगामेष, नेमेष, हरिणेगमेष, नायगमेशिन् और नेजमेष जैसे नामों से भी सम्बोधित किया जाता है।[4]

रूपरेखा

नैगमेषी देव का शिर बकरे का तथा अवशिष्ट भाग मनुष्य का रहता है। नैगमेषी का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा रहता है और बायें हाथ में लड़के रहते हैं, एक अथवा दो।[5] नैगमेषी देव केवल गर्भधारण के ही देवता नहीं थे, किन्तु वे जैनधर्म का उपदेश देने में भी पटु थे। प्रथम ईसवी

1- भैरवपद्मावतीकल्प, परिच्छेद सातवां

2- जैनसिद्धान्तभास्कर, भा० 17, किरण 2, पृ० 108

3- देखिए, वही

4- देखिए, वही

5- जैनशिलालेख संग्रह, भा० 1, भूमिका, पृ० 45

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शती की लिपि में अंकित एक शिलालेख के टुकड़े से ऐसा प्रमाणित है। इस शिलालेख के नीचे के भाग में अंकित नैगमेषी अपने भक्तों को उपदेश दे रहे हैं।[1]

अन्य जैन उपास्य देव एवं देवतुल्य प्राणी

अन्य उपास्य देवताओं में ब्रह्मदेव, नागदेव, तीर्थङ्करों के माता-पिता, अष्टदिक्पाल, क्षेत्रपाल, गणेश और शलाकापुरुष आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।[2]

1- जैनशिलालेखसंग्रह, भाग 1, भूमिका, पृ0 45

2- (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 18/35

(ख) त्रिषष्टि शलाकाचरित, 2/5,6,7

(ग) जैनसिद्धान्तभास्कर, अंक 1, वर्ष 12, पृ0 102

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आराध्य देवियां

जैनपरम्परा में प्रतीकात्मक देव-देवियों की उपासना कदाचित् उतनी ही प्रचलित है जितनी तीर्थङ्करों की। इन देव-देवियों की मूर्तियां भी तीर्थङ्करों की मूर्तियों से संख्या में कम नहीं होगी। एक ही शिला पर तीर्थङ्कर मूर्ति की अपेक्षा देवी मूर्ति का आकार कई गुना तक बनाया जाता रहा। देव-देवियों के साथ उनके गण, परिजन, अनुचर आदि की उपासना के विधान भी किये गये हैं।[1]

24 तीर्थङ्करों की सहायक यक्षिणियां

जैनपरम्परा में यक्षों के साथ यक्षिणियों की पूजा भी की जाती है। 24 यक्षों के साथ 24 यक्षिणियों के नाम भी जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। यक्षों की अपेक्षा यक्षिणियों के नामों के सम्बन्ध में जैनशास्त्रों में नाम-भेद अधिक है। यहां विभिन्न ग्रन्थों के नाम-साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डाला जा रहा है--

तिलोयपण्णत्ति के अनुसार[2]-- (1) चक्रेश्वरी, (2) रोहिणी, (3) प्रज्ञप्ति, (4) वज्रशृंखला, (5) वज्रांकुशा (6) अप्रतिचक्रेश्वरी, (7) पुरुषदत्ता, (8) मनोवेगा, (9) काली, (10) ज्वालामालिनी, (11) महाकाली, (12) गौरी, (13) गान्धारी, (14) वैरोटी, (15) अनन्तमती (16) मानसी, (17) महामानसी, (18) जया, (19) विजया, (20) अपराजिता, (21) बहुरूपिणी, (22) कूष्माण्डी, (23) पद्मा, (24) सिद्धायिनी।

1- दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन संग्रह, पृ0 297

2- तिलोयपण्णत्ति, 6/48, 49, 50 तथा 4/937-39

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठासार संग्रह के अनुसार[1]-- (1) चक्रेश्वरी, (2) रोहिणी, (3) प्रज्ञप्ति (नम्रा), (4) वज्रश्रृंखला (प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठातिलक में पविश्रृंखला), (5) पुरुषदत्ता अथवा संसारी (प्रतिष्ठासारोद्धार में खड्गवरा), (6) मनोवेगा (7) काली (मानवी), (8) ज्वालिनी (ज्वालामालिनी) (9) महाकाली, (10) मानवी, (11) गौरी (गोमेधका), (12) गान्धारी, (13) वैरोटी (प्रतिष्ठातिलक में वरोटिका), (14) अनन्तमती, (15) मानसी, (16) महामानसी, (17) जयदेवी (जया), (18) तारावती, (19) अपराजिता, (20) बहुरूपिणी, (21) चामुण्डा (कुसुममालिनी), (22) आम्रा (कूष्माण्डी), (23) पद्मावती, (24) सिद्धायिका (सिद्धायिनी)। प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठातिलक में शेष नाम समान हैं।

आचारदिनकर के अनुसार[2]-- (1) चक्रेश्वरी (निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में अप्रतिचक्रा), (2) अजितबला (निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में अजिता), (3) दुरितारि, (4) काली (निर्वाणकलिका तथा वास्तुसारप्रकरण में कालिका), (5) महाकाली, (6) अच्युता (अभिधानचिन्तामणि में श्यामा), (7) शान्ता, (8) भृकुटि, (9) सुतारा (अभिधानचिन्तामणि में सुतारका), (10) अशोका, (11) मानवी, (12) चण्डा (निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में प्रचण्डा), (13) विदिता, (14) अंकुशा, (15) कंदर्पा, (16) निर्वाणा (अन्य ग्रन्थों में निर्वाणी), (17) बला, (18) धारिणी, (19) नागाधिपा (अभिधानचिन्तामणि में धरणप्रिया, निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में वैरोट्या), (20) अच्छुप्तिका (नृदत्ता), (21) गान्धारिका (अन्य ग्रन्थों में गान्धारी या गान्धारा), (22) अम्बा (अभिधानचिन्तामणि में अम्बिका, निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में कूष्माण्डी), (23) पद्मावती। अभिधान-

---

1- अनेकान्त, वर्ष 28, अंक-4, पृ0 142, 143

2- देखिए, वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्तामणि, निर्वाणकलिका और वास्तुसारप्रकरण में शेष नाम आचारदिनकर के समान हैं।

अपराजितपृच्छा[1] में अन्य ग्रन्थों से नाम वैषम्य है। अतः उसके नामों की तालिका पृथक् से दी जा रही है, जो इसप्रकार है— (1) चक्रेश्वरी, (2) रोहिणी, (3) प्रज्ञा, (4) वज्रशृंखला, (5) नरदत्ता, (6) मनोवेगा, (7) कालिका, (8) ज्वालामालिनी, (9) महाकाली, (10) मानवी, (11) गौरी, (12) गान्धारिका, (13) विराटा, (14) तारिका, (15) अनन्तागति, (16) मानसी, (17) महामानसी, (18) जया (19) विजया, (20) अपराजिता, (21) बहुरूपा (22) अम्बिका, (23) पद्मावती, (24) सिद्धायिका। अपराजितपृच्छा की यह नाम सूची श्वेताम्बर ग्रन्थों की अपेक्षा दिगम्बर ग्रन्थों की सूची के अधिक निकट है।

तिलोयपण्णत्ती में यक्षों के नामों के समान यक्षिणियों के नामों में भी क्रम-विपर्यय है और नामों में कुछ अन्तर भी है। इस ग्रन्थ में पाँचवें नाम से ही क्रम भंग हो गया है तथा 5 नामों में अन्तर भी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यक्षिणियों के नामों में बड़ा अन्तर मिलता है। खण्डगिरि की बाराभुजी एवं नवमुनि गुफाओं में तीर्थङ्करों के साथ उनकी यक्षिणियाँ भी उत्कीर्ण हैं। देवगढ़ और पातियानदाई (वर्तमान में प्रयाग संग्रहालय में) चौबीस यक्षिणियों की मूर्तियाँ तीर्थङ्करों के बिना बनी हुई हैं। इनमें उनके नाम भी लिखे हुए हैं। देवगढ़ की यक्षिणियों के नाम किसी भी ग्रन्थ में दिये गए उनके नामों से नहीं मिलते हैं। जिस प्रकार साहित्य में यक्षिणियों के नामों के सम्बन्ध में परस्पर ऐकमत्य नहीं है, उसी प्रकार साहित्य और शिल्प के नामों में भी साम्य दिखाई नहीं पड़ता।

1- अनेकान्त, वर्ष 28, अंक-4, पृ0 142, 143, 144

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्या देवियां

जैनपरम्परा में 24 यक्षिणियों के अतिरिक्त 16 विद्या देवियों की मान्यता भी मिलती है। 16 विद्यादेवियों के नाम इसप्रकार हैं[1]--
(1) रोहिणी, (2) प्रज्ञप्ति, (3) वज्रश्रृंखला, (4) वज्रांकुशा, (5) जाम्बूनदा, (5) अ०वि० में चक्रेश्वरी (6) पुरुषदत्ता, (7) काली, (8) महाकाली (अ०वि० में महापरा), (9) गौरी, (10) गान्धारी, (11) ज्वालामालिनी, (निर्वाणकलिका में ज्वाला), (12) मानवी, (13) वैरोटी (निर्वाणकलिका में वैरोट्या), (14) अच्युता (निर्वाणकलिका में अच्छुप्ता), (15) मानसी और (16) महामानसी।

तीर्थङ्करों की 24 यक्षिणियों और 16 विद्यादेवियों के नामों का मिलान करने से ऐसा लगता है कि इन 16 देवियों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इनमें से दो या तीन को छोड़कर प्रायः सभी नाम यक्षिणियों में है। समीकरण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सरस्वती के विभिन्न रूपों को लेकर 16 विद्यादेवियों की कल्पना की गई, किन्तु उनको स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान नहीं किया गया, बल्कि यक्षिणियों के बहुभाग को विद्यादेवी का भी नाम प्रदान किया गया। इन देवियों के यक्षिणी या विद्यादेवी के रूपों की पृथक् पहचान के लिए उनके रूप, वाहन और आयुधों में अन्तर डाल दिया गया। विद्यादेवियों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व न देने का एकमात्र कारण हम यही समझते हैं कि ये यक्षिणियों से भिन्न कोई अलग देवी नहीं है। इनका विद्यादेवी का रूप तो कल्पित है। सम्भवतः इसीलिए दिगम्बर जैन शिल्प में इन देवियों का अंकन देखने में नहीं आया।

कतिपय प्रमुख उपास्य देवियों का पृथक्-पृथक् विवेचन आगे किया जा रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1- देवी सरस्वती

जैनपरम्परा में सरस्वती-पूजा अति प्राचीनकाल से प्रचलित रही है। मथुरा के जैन शिल्प में कुषाण काल की सरस्वती प्रतिमा मिली है। सम्भवत: सरस्वती प्रतिमाओं में यह सबसे प्राचीन है। सरस्वती नामक कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व हो, ऐसा नहीं लगता, बल्कि समस्त द्वादशाङ्गश्रुत को देवता के रूप में माना है। श्रुत की मान्यता भी देव और गुरु के समान है। इसलिए ही श्रुतभक्ति में "भक्त्या नित्यं प्रवन्दे श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारं" कहकर श्रुत की वन्दना की गई है।[1] श्रुत के सम्बन्ध में बताया गया है--

"अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा।।"[2]

अर्थात् अर्हन्तों द्वारा भाषित और गणधर देवों द्वारा ग्रथित श्रुतज्ञान-सागर को मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

श्रुत जिनेन्द्र की वाणी है। इसलिए वह जिनेन्द्र के समान ही मान्य और पूज्य माना गया है। इतनी मान्यता होने के कारण उसे श्रुत देवता मान लिया गया और श्रुत देवता के प्रतीकरूप में सरस्वती की कल्पना की गई। सरस्वती की कल्पना सर्वप्रथम किस काल में की गई, निश्चितरूप से यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु कुषाणकाल की सरस्वती प्रतिमा मिलने से यह कल्पना कम से कम 2000 वर्ष प्राचीन तो है ही।[3] इसके पश्चात् सरस्वती की परिकल्पना में क्रमिक विकास हुआ, उसके वाहन, आयुध, रूप आदि की कल्पना की गई। इसके पश्चात् सरस्वती के षोडश रूपों की कल्पना का विकास

1- संस्कृतश्रुतभक्ति, उपसंहार

2- देखिए, वही, पद्य-3

3- अनेकान्त, वर्ष 28, अंक 6, पृ0 144

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ, जिन्हें षोडस विद्यादेवियां कहा जाता है। अभिधान-चिन्तामणि (देवकाण्ड, द्वितीय) में इन षोडश देवियों का नामोल्लेख करते हुए इस कल्पना को इसप्रकार व्यक्त किया गया है--

"वाग् ब्राह्मी भारती गौर्गीर्वाणी भाषा सरस्वती।
श्रुतदेवी वचनं तु व्याहारो भाषितं वच: ।।"[1]

वाग, ब्राह्मी, भारती, गौ:, गीर्वाणी, भाषा, सरस्वती, श्रुतदेवी, वचन, व्याहार, भाषित और वचस् ये सब एकार्थक हैं।

इसका आशय यह है कि सरस्वती श्रुतदेवता से भिन्न नहीं है और ये विद्यादेवियां श्रुतदेवता के ही विभिन्न मूर्तरूप हैं। "निर्वाणकलिका" नामक ग्रन्थ में सरस्वती को द्वादशांग श्रुतदेव की अधिदेवता बतलाया है।[2] षोडश विद्यादेवियां विद्या या ज्ञान की देवियां हैं, ऐसी मान्यता है। हरिवंशपुराण में सरस्वती देवी का नामोल्लेख हुआ है। उसमें बताया है कि जब तीर्थङ्कर नेमिनाथ का विहार हो रहा था, उस समय लौकान्तिक देव भगवान् के आगे-आगे चल रहे थे, पद्मा और सरस्वती देवियां अपने हाथों में कमल लेकर तथा उनके परिवार की देवियां हाथों में मंगल द्रव्य धारण करके भगवान् के आगे-आगे चल रही थीं।[3]

सरस्वती देवी की अनेक प्रतिमायें कई स्थानों पर मिलती हैं। साहित्य में 9-10वीं शताब्दी में उसको व्यवस्थित रूप मिला। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में इन्हीं या पश्चातवर्ती शताब्दियों में शिल्पशास्त्रों और प्रतिष्ठाशास्त्रों की रचनायें हुईं। उनमें तथा प्रासङ्गिक

1- (क) अभिधान चिन्तामणि, देवकाण्ड द्वितीय, पद्य-23
   (ख) धनन्जयनाममाला, कारिका-104

2- निर्वाणकलिका, भूमिका, पृ0 6

3- हरिवंशपुराण, 59/27

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप से अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में सरस्वती और उसके विभिन्न रूपों की अनुकृति पर विद्यादेवियों के रूप, वाहन और आयुध आदि को व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया। दिगम्बर परम्परा में प्रायः विद्यादेवियों के पूजा-विधान के रूप में उनका रूप-वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में उनके मूर्ति-शिल्प का वर्णन मिलता है। देवी सरस्वती की अधिकांश मूर्तियाँ श्वेताम्बरमार्गीय हैं। ये प्रतिमायें पद्मासन पर खड़ी त्रिभंग, सम्पभंग और ललितासन में मिलती हैं। सरस्वती की जैन प्रतिमायें आभूषण साज-सज्जा एवं सुन्दर वस्त्र-सज्जा के कारण प्रसिद्ध हैं।[1]

पहचान

जैनमतानुसार सरस्वती के चार हाथ होते हैं। दायीं ओर का एक हाथ अभयमुद्रा में उठा रहता है और दूसरे में कमल होता है। बायीं ओर के दोनों हाथों में क्रमशः पुस्तक और अक्षमाला रहती है। देवी का वाहन हंस, देवी का वर्ण श्वेत, देवी के तीन नेत्र होते हैं। देवी की जटाओं में बालेन्दु शोभा धारण करता है।[2] अमितगतिश्रावकाचार में देवी सरस्वती के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि--"जो माता के समान पुरुषों को हित की शिक्षा देती है, कर्ममल को दूर फेंकती है तथा सुख को देती है, समस्त शास्त्र के अर्थ के विचार में कुशल ऐसी उस जिनवाणी को सरस्वती कहा जाता है।"[3] देवी सरस्वती की महत्ता को प्रकट करने हेतु सरस्वती कल्प की रचना भी की गई है। सरस्वती कल्प में सरस्वती देवी के महत्त्व का विशद विवेचन हुआ

1- पं० कैलाशचन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 323

2- "अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी।
त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता।।"
--सरस्वती कल्प, भैरवपद्मावतीकल्प, परि० ।।, पद्य-2,3,4

3- अमितगतिश्रावकाचार पद्य-1 -7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है।[1] अन्य जैन ग्रन्थों में भी देवी सरस्वती का वर्णन आया है।[2]

2- देवी पद्मावती

रूपरेखा

देवी पद्मावती के स्वरूप का विवेचन जैनसाहित्य के अनेक स्थलों पर हुआ है। देवी पद्मावती के चार हाथ होते हैं। एक हाथ वरदमुद्रा में उठा हुआ होता है। दूसरे हाथ में अंकुश है। बायीं ओर वाले हाथ में दिव्य फल तथा दूसरे दाहिने वाले हाथ में पाश रहता है। इनका वाहन कर्कुट नामक नाग है।[3] देवी पद्मावती के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं। यथा- सरस्वती,

---

1- "जगदीशं जिनं देवमभिवन्द्याभिशङ्करम् ।
वक्ष्ये सरस्वतीकल्पं समासाद्याल्पमेधसाम् ।।
लब्धवाणी प्रसादेन मल्लिषेणेन सूरिणा ।
रच्यते भारतीकल्पः स्वल्पजाप्यफलप्रदः ।।"
--सरस्वतीमन्त्रकल्प, भैरवपद्मावती कल्प, पद्य- 1,3

2- (क) सरस्वती मन्त्रकल्प, परि0 11, पद्य 1,3,8,11
(ख) श्री शारदास्तवन, परि0 14, पद्य 5,6

3- (क) कमठोपसर्गदलनं त्रिभुवननाथं प्रणम्य पार्श्वजिनम् ।
वक्ष्येऽभीष्टफलप्रद-भैरवपद्मावतीकल्पम् ।।
पन्नगाधिपशेखरां विपुलारुणाम्बुजविष्टरां ।
कुर्कुटोरगवाहनामरुणप्रभां कमलाननाम् ।।
त्र्यम्बकां वरदाङ्कुशायतपाशदिव्यफलाङ्कितां,
चिन्तयेत् कमलावतीं जपतामितां फलदायिनीम् ।।"
—भैरवपद्मावतीकल्प, पद्य 1/1,2/12,2,8
(ख) पार्श्वनाथचरित्र, 7/728

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तारा, दुर्गा, शक्ति, लक्ष्मी, काली, अम्बिका और भैरवी आदि।[1]

माहात्म्य

देवी पद्मावती ने भगवान् पार्श्वनाथ के समय में जिन शासन (जिनधर्म) की अत्यधिक उन्नति की थी, इसलिए उसे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की शासनदेवी या शासनसुन्दरी भी कहा जाता है। भगवान् पार्श्वनाथ की कमठ के उपसर्ग से रक्षा करने के कारण पद्मावती को यक्षिणी और धरणेन्द्र को यक्ष भी कहा जाता है। दोनों नाम चिह्न को धारण करने वाले हैं।[2] कमठ के उपसर्ग की कथा इसप्रकार से है-- पूर्व जन्म में धरणेन्द्र और पद्मावती साधारण नाग-नागिन थे। एक वैदिक याज्ञिक के द्वारा उनकी आहुति दी ही जाने वाली थी कि युवराज पार्श्वनाथ ने ठीक समय पर पहुंचकर उनकी रक्षा की। फिर भी वे बहुत कुछ झुलस चुके थे। उनके मृत्यु समय पार्श्वनाथ ने णमोकार मन्त्र सुनाया, जिसके प्रभाव से वे मरकर भवनवासी युगल के रूप में उत्पन्न हुए।[3] तपस्वी पार्श्वनाथ पर कमठ के उपसर्ग की बात जानकर दोनों ही आये और अपना मणिमयी फण तानकर उनकी रक्षा की।[4] दोनों ही भगवान् "जिन" के परम भक्त थे।

भैरवपद्मावतीकल्प में धरणेन्द्र और पद्मावती को मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता के रूप में माना गया है।[5] उक्त माहरस्तोत्र में बताया गया है कि भद्रबाहु

1- "त्वं बुद्धि-सिद्धि-वृद्धिस्त्वं ज्वालामालिनिश्वरी बाला।
कामाक्षा जगदम्बाअम्बा जगदीश्वरी तारा ॥"
-- पद्मावतीस्तोत्र, पद्य-4,20

2- (क) पार्श्वनाथचरित्र, 12/42
(ख) उत्तरपुराण, 73/139, 140

3- पार्श्वनाथचरित्र, 6/50-68

4- उत्तरपुराण, 73/139, 140

5- पद्मावतीकल्प, परिशिष्ट-5, पृ0 26,36

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वामी के संघ को एक व्यन्तर के घोर उपसर्ग से धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने ही बचाया था।[1] आचार्य यतिवृषभ[2] एवं श्री पादलिप्तसूरि[3] ने भी पद्मावती देवी का महत्व प्रतिपादित किया है।

3- देवी चक्रेश्वरी

रूपरेखा

जैन मान्यता के अनुसार देवी चक्रेश्वरी भगवान् ऋषभदेव की शासन देवी है। चक्रेश्वरी देवी को वज्रहस्ता तथा गरुड़वाहिनी कहा गया है।[4] इस देवी को ब्रह्मदेवी भी कहा गया है।[5] देवी का वाहन गरुड़ है। श्वेताम्बर चक्रेश्वरी मूर्ति के आठ हाथ मिलते हैं, जिनमें तीर, चक्र, धनुष, अंकुश, वज्र, वरदमुद्रा आदि होते हैं। इसके विपरीत दिगम्बर सम्प्रदाय बारह और चार हाथ की मूर्तियों को मान्यता देता है। 12 हाथ वाली मूर्ति में आठ में चक्र होते हैं। दो में वज्र तथा एक हाथ वरदमुद्रा में होता है। चार हाथ वाली में दो हाथ में चक्र दिखायी पड़ते हैं।[6]

माहात्म्य

चक्रेश्वरी देवी की मूर्तियाँ अनेक स्थानों पर है किन्तु सरहिन्द के पास बना हुआ चक्रेश्वरी माता का मन्दिर पंजाब में एक चमत्कारी तीर्थ माना जाता है।[7] चक्रेश्वरी देवी से सम्बन्धित भक्ति के अनेक उद्धरण जैनसाहित्य

1- उवसग्गहरस्तोत्र, जैनस्तोत्र संग्रह, भा0 2, पृ0 4,5,13

2- तिलोयपण्णत्ति, भा0 1, 4/936

3- निर्वाणकलिका, पृ0 34

4- तिलोयपण्णत्ति, भा0 1, 4/937

5- पं0 कैलाशचन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0 324

6- विजयानन्द, अंक 9, सन् 1980, पृ0 11, 12

7- जैनलक्षणावली, भा0 3, पृ0 1001

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में मिलते हैं। एक जगह वर्णन आया है--"हे देवी! चक्रेश्वरी! तुम्हारा मुख पूरे कलियुग को लील जाने में समर्थ है। तुम्हारी आवाज दुन्दुभि की भाँति भीमनाद करती हुई निकलती है। खगपति पर सवार होकर जब तुम विश्व भ्रमणार्थ निकलती हो, तो अच्छे व्यक्ति तुम्हारा दर्शन करने के लिए लालायित हो उठते हैं और दुष्टों का खून सूख जाता है।"[1] जिनदत्तसूरि ने एक चक्रेश्वरी-स्तोत्र की रचना की थी। उसकी भाषा संस्कृत है और भाव सरस। यह स्तोत्र भैरवपद्मावतीकल्प के परिशिष्ट में प्रकाशित हुआ है। उसमें केवल दस श्लोक हैं। एक स्थान पर सूरि जी ने कहा--"हे देवी चक्रेश्वरी! तुम चन्द्रमण्डल की भाँति अन्धकार के समूह को ध्वस्त कर देती हो। भव्य प्राणीरूपी चकोरोंके सन्ताप को दूर कर आनन्द प्रदान करती हो। सम्यग्दृष्टियों को उत्तम सम्पत्ति देकर सुखी बनाती हो। तुम्हारे मुख का सौन्दर्य जीव-मात्र के मन को प्रसन्न कर बनानेवाला है।"[2]

श्री जिनप्रभसूरि ने "विविध तीर्थकल्प" में ऋषभदेव की स्तुति की है, उसके अन्तिम श्लोक में, देवी चक्रेश्वरी से कल्याण की याचना की गयी है। सूरि जी ने कहा--"जो देवी गरुड़ पर आरूढ़ हो संसार में विचरण करती है, जो भगवान् ऋषभदेवरूपी रसाल वन की कोयल है, सुन्दर चक्र को धारण करने

1-(क) " श्री चक्रेश्वरी चन्द्रमण्डलमिव ध्वस्तांधकारोत्करं,
भव्यप्राणीचकोरचुम्बितकरं संतापसंपद्धरं ।
सम्यग्दृष्टिसुखप्रदं सुविशदं कान्त्यास्पदं संपदां, ।।
पात्रं जीवमनः प्रसादजनकं भाति त्वदीयं मुखम् ।।"
--श्री चक्रेश्वरीस्तोत्र, भैरवपद्मावतीकल्प, परि० 22, पद्य-2, 3, 6

(ख) श्री चक्रेश्वरीदेवी स्तुति, पद्य- 1-5 तथा पद्य 141, 142

2- चक्रेश्वरीस्तोत्रम्, भैरवपद्मावतीकल्प, परि० 22, पद्य-2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से, जिसके हाथ सदैव सुशोभित होते रहते हैं और जिसके शरीर की कान्ति नये विद्रुम की भाँति दमकती है, वह चक्रेश्वरी हमारा कल्याण करे।"[1]

4- देवी अम्बिका

रूपरेखा

देवी अम्बिका तीर्थङ्कर नेमिनाथ की शासनदेवी मानी जाती है।[2] श्वेताम्बर एवं दिगम्बर मान्यता के अनुसार, अम्बिका के बाह्यरूप में बहुत कुछ समानता होने पर भी अन्तर पाया जाता है। श्वेताम्बर आचार्य गुणविजयगणि ने अपने नेमिनाथचरित में अम्बिका का स्वरूप वर्णित किया है। इसी के समान दिगम्बर मतावलम्बी भी देवी अम्बिका को सिंहवाहिनी द्विभुजावाली मानते हैं।[3] इसका विस्तृत विवेचन प्रतिष्ठातिलक और प्रतिष्ठासारोद्धार में मिलता है। विचार किया जाये तो यह देवी सिंहवाहिनी दुर्गा, अम्बा तथा कूष्माण्डी से मिलती है। अन्त वाला एक नाम दुर्गा का है।

माहात्म्य

देवी अम्बिका के भक्ति से सम्बन्धित उद्धरण जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। एक भक्त देवी के चरणों में झुका हुआ तीनों लोकों के पापों को नष्ट

1- "आरुह्य खे चरति खेचरचक्रिणं या नाभेयशासनरसालवनान्यपुष्टा ।
चक्रेश्वरीरुचिरचक्रविरोचिहस्ता शस्ताय सा ऽस्तु नवविद्रुमकायकान्तिः।।
— कुल्यपाकस्थ ऋषभदेवस्तुति, विविधतीर्थकल्प, पद्य-4

2- नेमिनाथचरित, पद्य- 24,25,26

3- (क) प्रतिष्ठातिलक, 7/22

(ख) प्रतिष्ठासार, पद्य- 176

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने की प्रार्थना करता है--"हे अम्बिका। तुम ह्रीं के द्वारा बड़े-बड़े विघ्नों के समूहों को नष्ट करती हो, दुष्टों के मन्त्र, विद्या और बल को मूल से काट देती हो और एक हाथ में सहकार लुम्बिका को धारण करने वाली हो। हे देवि। मैं आपसे संसार के पापों को दूर करने की प्रार्थना करता हूं।"1

देवी अम्बिका में उदारता की कमी नहीं है। वह भक्त-वत्सला है, उसके भक्तों की पुकार कभी व्यर्थ प्रमाणित नहीं हुई। पुकार तो दूर की बात है, देवी का एक बार नाम लेना ही पर्याप्त है। रैवतक गिरि पर निवास करनेवाली वह देवी अपना नाम लेने वाले के समूचे पापों को क्षणभर में नष्ट कर देती है। उसकी उदारता सराहनीय है, वह सच्चे अर्थों में जगत्स्वामिनी है।2

5- देवी कुरुकुल्ला

कुरुकुल्ला देवी को तान्त्रिक युग की देन माना जाता है। मन्त्र से उसका सीधा सम्बन्ध है। वह सर्पों की देवी है। विशेषतः वह वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की बौद्ध देवी थी। एक बार उसने 12-13वीं शती के देवसेनसूरि का उपदेश सुन लिया तो जैन अनुयायी हो गई। उसने सूरि की सर्पों से रक्षा की, तब से यह सर्पों की देवी कहलाने लगी।3 इसकी मूर्तियां

1- "ह्रीं महाविघ्नसङ्घातनिर्णाशिनी दुष्टपरमन्त्रविद्याबलच्छेदिनी।
हस्तविन्यस्तसहकारफललुम्बिका, हरतुदुरितानि देवी। जगत्यम्बिका।।"
-- अम्बिकादेवीस्तुति, भैरवपद्मावतीकल्प, परि0 21, पद्य-7

2- "पिङ्गलारोत्पतद्भीमकण्ठीरवे नाममन्त्रेण निर्णाशितोपद्रवे ।
अक्षराक्षर रैवतकगिरिनिवासिनि अम्बिके। जय जय त्वं जगत्स्वामिनी।।"
--देखिए, वही, पद्य-2

3- उपदेशसप्ततिका, आरासणतीर्थवृत्तान्त, पृ0 38

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुपलब्ध हैं। देवी कुरुकुल्ला की भक्ति के उद्धरण जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। कुरुकुल्ला देवी तीनों लोकों में पूज्य मानी जाती है। उसका दर्शन मनुष्य को लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार की सम्पत्ति वितरित करने में समर्थ है।[1] सम्पूर्ण इन्द्रियों का निरोध कर जो व्यक्ति "महोद्योतरूपा" देवी का अपने पवित्र मन में ध्यान करता है, उसका अज्ञान का तमस् विलीन हो जाता है और चारों ओर से केवलज्ञान-लक्ष्मी का उदय होता है। केवलज्ञान प्राप्त करना ही जैन-साधक का ध्येय है और यह ज्ञान देवी की भक्ति से सहज में उपलब्ध हो जाता है।[2]

6- देवी ज्वालामालिनी

देवी ज्वालामालिनी तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की शासन देवी है। ज्वाला की माला को धारण करने के कारण इस देवी का नाम ज्वालामालिनी पड़ा है। देवी का वाहन महिष है। देवी ज्वालामालिनी से सम्बन्धित भक्ति के उद्धरण भैरवपद्मावतीकल्प के अनेक स्थलों पर मिलते हैं। भैरवपदमावतीकल्प में कहा गया है कि देवी ज्वालामालिनी के स्मरण और दर्शन से संसार वश में हो जाता है। केवल इस देवी के स्मरण से ही लक्ष्मी स्वयं भक्त को वरण कर लेती है।[3] इसीप्रकार के और भी उद्धरण देवी ज्वालामालिनी से सम्बन्धित मिलते हैं।[4]

1- कुरुकुल्लादेवी-स्तवनम्, जैनस्तोत्रसमुच्चय, पद्य- 2,4,5,6,7

2- देखिए, वही, पद्य- 9

3- "पुष्पादिजापामृतहोमपूजाक्रियाधिकार:सकलोऽस्तु दूरे ।
य: केवलं ध्यायति बीजमेव सौभाग्यलक्ष्मीर्वृणुते स्वयं तम् ।।
--ज्वालामालिनिमन्त्रस्तोत्रम्, भैरवपद्मावतीकल्प, परि० 25,पद्य-12,5,-6,7,13

3- (क) विविधतीर्थकल्प, पृ० 85
(ख) ज्वालिनीकल्प, जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, पद्य-22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7- देवी लक्ष्मी

लक्ष्मी देवी को जैन देवमण्डल में बहुत ही पहले सम्मिलित कर लिया गया था। कल्पसूत्र में तीर्थङ्करों की माताओं द्वारा उनके 14 शुभ स्वप्नों के सन्दर्भ में चौथे स्वप्न के रूप में लक्ष्मी का वर्णन हुआ है। लक्ष्मी देवी का मूल्यांकन मुख्यत: शुभ स्वप्नों के सन्दर्भ में हुआ है।[1] देवी लक्ष्मी की मूर्तियों का अभाव भी जैन कला एवं पुरातत्त्व में पाया जाता है।

8- देवी सच्चियाय

सच्चियाय माता वस्तुत: महिषासुरमर्दिनी देवी है। यह, हिन्दू देवी महिषासुरमर्दिनी या चामुण्डा का ही जैनरूप है।[2] इसके जैनीकरण की कथा बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह देवी भैंसे के मांस से तृप्त होती थी। इसलिए 13वीं शती में रत्नप्रभसूरि ने जैनों को उसके मन्दिर में जाने से रोक दिया। एक बार भूखी देवी श्री सूरि जी के पास आयी और अपना भक्ष्य मांगा। सूरि जी ने मिष्टान्नादि भेंट किये। किन्तु महिषों के मांस से तृप्त होने वाली देवी ने मिष्टान्न को स्वीकार नहीं किया। सूरि जी के द्वारा प्रबोधित किये जाने पर देवी अहिंसक बन गयी। देवी सच्चियाय अहिंसक बनकर जैनधर्म में दीक्षित हो गयी।[3]

1- जैनधर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ० 174

2- जैनसिद्धान्तभास्कर, भा० 21, किरण 1, पृ० 4

3-(क) उपदेशगच्छपट्टावलीसमुच्चय, भा० 1 , पृ० 187

(ख) जैनसिद्धान्तभास्कर, भा० 21, किरण 1, पृ० 4,5

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचम अध्याय

ईश्वर की स्थिति एवं भक्ति का प्रयोजन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईश्वर की स्थिति एवं भक्ति का प्रयोजन

ईश्वर की स्थिति

सामान्यतः ईश्वर को इस जगत् का कर्ता, पालक एवं संहारक माना जाता है। उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न तथा अनादि-अनन्त माना जाता है। कुछ लोग सगुण ईश्वर की कल्पना करते हैं तो कुछ निर्गुण की। भक्ति मुख्यतः सगुण ईश्वर में ही सम्भव है। क्या जैनदर्शन का भी ईश्वर इसी प्रकार का है। यदि वह सृष्टिकर्ता तथा अनुग्रहकर्ता नहीं है तो फिर ईश्वर की उपासना क्यों की जाती है? यदि वह पहले हमारे ही जैसा था तो फिर कैसे ईश्वर बना? क्या सभी मुक्त ईश्वर हैं? क्या अनादिमुक्त भी हैं? इत्यादि प्रश्न इस सन्दर्भ में विवेच्य हैं। भक्ति जिस उपास्यदेव की होती है वह उपास्य देव कौन है और उसका क्या स्वरूप है? इसका विचार आवश्यक है क्योंकि जैसा उपास्य देव होगा फलप्राप्ति भी उसी प्रकार की होगी। विभिन्न दर्शनों में जहाँ भक्ति का विवेचन है उपास्यदेव भिन्न-भिन्न हैं और उनका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। सामान्यतः उपास्य देव को ईश्वर के नाम से जाना जाता है। अतः उसके स्वरूपादि का विचार प्रस्तुत है।

जैनदर्शन में ईश्वर का स्वरूप निश्चय और व्यवहार दो दृष्टियों से किया गया है। सामान्यतः "ईश्वर" शब्द का अर्थ- ऐश्वर्यशाली[1],

---

1- (क) येनाप्तं परमैश्वर्यं परानन्दसुखास्पदम् ।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिःस्मृतः ।।
-- आप्तपरीक्षा, टीका, पद्य-23

(ख) "ईश्वरो युवराजा माण्डलिकोऽमात्यश्च ।अन्ये तु व्याचक्षते- अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्तईश्वरः।" --अनुयोगसूत्र,हरि०वृ०,पृ० 16

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैभवशाली[1], सर्वशक्तिमान्[2], स्वामी[3], अधिकारी[4], कर्ता-हर्ता[5] आदि से किया जाता है। वह ईश्वर अनादिकाल से संसार के कारण क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से सर्वथा अछूता है, उनका विनाश कर देने से उसे ईश्वरत्वपद प्राप्त नहीं हुआ है, अपितु सदा से ही उनसे वह सर्वथा रहित है। इसलिए वह सबसे श्रेष्ठ है, सबका गुरु है, सबका ज्ञाता है। जो संसारी जीव क्लेशादि कर्मों को नष्ट करके मुक्त होते हैं, वे कभी भी उसके समान नहीं हो सकते। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है, क्योंकि काल के द्वारा उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे अनादि अनन्त पुरुषविशेष को ईश्वर कहा जाता है।[6] परन्तु जैनदर्शन में इसप्रकार के ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। जैसाकि कहा गया है--

"नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन ।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ।।"[7]

1- (क) समाधिशतक, टीका, 6/225/17
   (ख) द्रव्यसंग्रह, टीका, 14/47/7
2- (क) प्र०सा०, गा० 35
   (ख) स०सा०, गा० 322
   (ग) गोमट्टसार, कर्मकाण्ड, गा० 800,880
   (घ) पर०प्र०, 1/66
3- स्याद्वादमञ्जरी, पृ० 44-56
4- देखिए, वही, पृ० 413
5- देखिए, वही, पृ० 413-418
6- देखिए, वही, परि० ग, पृ० 413
7- आप्तपरीक्षा, गा० 8

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् कोई सर्वद्रष्टा सदा से कर्मों से अछूता हो नहीं सकता, क्योंकि बिना उपाय के उसका सिद्ध होना किसी भी तरह नहीं बनता। वास्तव में ईश्वर को अनादि मानने के कारण उसे सदा कर्मों से अछूता माना गया है और चूँकि वह सृष्टि का कर्ता है, इसलिए उसे अनादि माना गया है। परन्तु जैन-दर्शन किसी को इस विश्व का कर्ता नहीं मानता। अतः वह किसी एक अनादि-सिद्ध परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नहीं, अपितु असंख्य हैं। उनकी संख्या अनन्त है और आगे भी वे निरन्तर अनन्तकाल तक होते रहेंगे क्योंकि जैनसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिये हुए मुक्त हो सकता है।[1] आज तक ऐसे अनन्त आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होंगे। ये मुक्त जीव ही जैनदर्शन के ईश्वर हैं। इन्हीं में से कुछ मुक्तात्माओं को जिन्होंने मुक्त होने से पहले तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध किया था। उसी के प्रभाव से वे तीर्थ (धर्मोपदेश) का प्रवर्तन करते हैं और तीर्थङ्कर कहलाते हैं। सामान्य मुक्तों से उनका मुख्य भेद यही है कि वे तीर्थङ्कर होकर मुक्त हुए हैं और अन्य बिना तीर्थङ्कर हुए मुक्त हुए हैं। वस्तुतः जैनदर्शन इन तीर्थङ्करों को ही ईश्वर मानता है जो पहले कभी बन्धन में थे। परन्तु केवलज्ञान प्राप्ति के बाद हमेशा के लिए कर्मबन्धन से मुक्त हो गये हैं। ये तीर्थङ्कर संख्या में 24 हैं।

प्रत्येक काल परिवर्तन के क्रम में 24 नये तीर्थङ्कर होते हैं। तीर्थङ्करों का अवतार आदि नहीं होता है। जैन प्रमुखरूप से इन्हें ही ईश्वर या परमेश्वर

1- (क) प्र०सा०, 1/81, 1/15
(ख) समाधिशतक, पद्य- 98
(ग) आप्तपरीक्षा, पद्य-22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं। ये पूर्ण वीतरागी हैं। सांख्य के तटस्थ पुरुष की तरह रहते हुए भी विदेहमुक्त होने पर ये अनन्तज्ञानदर्शन वीर्य (शक्ति) आदि गुणों जो आत्मा के स्वभाविकगुण हैं, के तरह हैं।

इनके बाद सामान्य मुक्त जिन्हें सिद्ध कहा जाता है उन्हें ईश्वर माना जाता है। णमोकार मन्त्र में इनका दूसरा स्थान है। तीर्थङ्कर जीवन्मुक्तावस्था में उपदेश देते हैं, अत: हम संसारियों के उपकारक है, अत: उनकी पूज्यता पहले मानी गई है। इसके बाद आचार्य उपाध्याय एवं साधुओं को पूज्य माना गया है। परन्तु इन्हें ईश्वर नहीं कहा जाता है।

कोई अनादिमुक्त ईश्वर नहीं है क्योंकि बन्ध के अभाव में ही मुक्तत्व का व्यवहार सम्भव नहीं है। अत: अनादिकाल से मुक्तों की स्थिति होते हुए भी कोई भी जीव अनादिमुक्त नहीं है। कर्मबन्धनों को रत्नत्रय के द्वारा खोलकर व्यक्ति मुक्त होता है। इस तरह की स्वरूपस्थिति ही मुक्तत्व है और यही ईश्वरत्व है।

सृष्टिकर्तृत्व के विषय में आधुनिक विचारकों एवं वैज्ञानिकों ने भी जैनमत का समर्थन किया है। पं० जवाहरलाल नेहरू का कथन है--"हमें इस पर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की? कि पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए कठोर और दु:खपूर्ण संसार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड़ भी और फिर हमको सजा भी देता है।"[1] लाला लाजपतराय कहते हैं--"क्या मुसीबतों, विषमताओं और क्रूरताओं से परिपूर्ण यह जगत् एक भद्र परमात्मा की कृति हो सकता है? जबकि हजारों मस्तिष्क-हीन विचार तथा विवेकशून्य, अनैतिक, निर्दय, अत्याचारी, जालिम, लुटेरे

1- मेरी कहानी, पृ० 18

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और स्वार्थी मनुष्य विलासिता का जीवन बिता रहे हैं और अपने अधीन व्यक्तियों को हर प्रकार से अपमानित और पददलित करते हैं। भला ये सब विषमतायें क्यों है? क्या ये न्यायशील और ईमानदार ईश्वर के कार्य हो सकते हैं। मुझे बताओ तुम्हारा ईश्वर कहाँ है। इस निस्सार जगत् में उसका कोई भी निशान नहीं पाता।"[1] ईश्वर के विषय में यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कहा है कि ईश्वर किसी भी दृष्टि से विश्व का निर्माता नहीं हो सकता है।[2] आज का विज्ञान भी सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। वैज्ञानिक जूलियन हक्सले के अनुसार इस विश्व का नियंत्रण स्वयं अपनी ही शक्ति से हो रहा है।[3] विज्ञान के अनुसार असत् का उत्पादन और सत् का विनाश नहीं होता है, जैनदर्शन की भी यही मान्यता है। जो प्राणी कर्म शत्रुओं को जीतकर भगवान् या ईश्वर बना है वह हमारे लिए स्तुत्य है चाहे वह महावीर बुद्ध, हरि, शिव, ब्रह्मा, जिन आदि किसी भी नाम से सम्बोधित क्यों न किया जाये।[4] इसप्रकार से ईश्वर सृष्टि का निर्माता एवं नियामक नहीं है।

जैनदर्शन का मन्तव्य है कि अनादिकाल से कर्मबन्धन से लिप्त होने के कारण जीव अल्पज्ञ हो रहा है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण उसके स्वाभाविक ज्ञान आदि सद्गुण ढके हुए हैं। इन आवरणों के दूर होने पर यह जीव अनन्त ज्ञान आदि का अधिकारी हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। जो भी महान् पुरुष कर्म-बन्धन को नष्ट करके मुक्त हुए हैं वे सभी सर्वज्ञ हैं। जो सर्वज्ञ होता है वह कर्मबन्धन को अलग करके ही सर्वज्ञ होता है, उसके बिना

1- प्रज्ञा, अंक 3, वर्ष 1974, पृ० 139

2- देखिए, वही, पृ० 139, 140

3- देखिए, वही, पृ०140

4-(क) प०प्र०, पृ० 102

(ख) आप्तपरीक्षा, प्राक्कथन, पृ० 3, 4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता। इसलिए अनादि सिद्ध कोई नहीं है। चार घातिया कर्मों का नाश करके यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है।[1] सर्वज्ञ का दूसरा नाम केवली भी है क्योंकि उसका ज्ञान और दर्शन आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं करता, अतः वह केवली कहा जाता है। उसे जीवन्मुक्त भी कहा जाता है क्योंकि यद्यपि वह अभी शरीरसहित है किन्तु घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने के कारण मुक्तात्मा के ही समान है। घातिया कर्मों के नाश कर देने के कारण उसे "अर्हन्त" तथा कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लेने के कारण उसे "जिन" कहा जाता है।

जैनदृष्टि से अर्हन्तपद तथा सिद्धपद को प्राप्त हुए जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव में इसप्रकार के ईश्वर होने की शक्ति है। परन्तु अनादिकाल से कर्मबन्धन के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। जो जीव इस कर्मबन्धन को काट डालता है उसके ही ईश्वर होने की शक्तियां प्रकट हो जाती हैं और वह ईश्वर बन जाता है। इसप्रकार ईश्वर किसी एक पुरुष विशेष का नाम नहीं है। अपितु अनादिकाल से जो अनन्त जीव अर्हन्त और सिद्धपद को प्राप्त हो गये हैं और आगे होंगे उन्हीं का नाम ईश्वर है। जैनदर्शन के ये ईश्वर संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। न सृष्टि के संचालन में उनका हाथ है, न वे किसी का भला बुरा करते हैं। न वे किसी के द्वारा स्तुति करने से कभी प्रसन्न होते हैं और न किसी के द्वारा निन्दा करने से अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य अथवा वैभव के नाम से कह सकें, न ही वे किसी को उसके अपराधों की सजा देते हैं। जैनसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयंसिद्ध है। जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख-दुःख पाते हैं। ऐसी अवस्था में मुक्तात्माओं और अर्हन्तों को इन सभी कार्यों को करने की

1-(क) आप्तपरीक्षा, 9/32-49 तथा 9/51-68

(ख) जैनसिद्धान्तकोष, भाग 3, पृ0 20, 21, 22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना शेष नहीं रहा है।

इसप्रकार से जैनदर्शन ईश्वर को सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान् और वीतराग मानते हुए, उसे सृष्टि के सृजन, संरक्षण एवं विघटन से सर्वथा असम्बद्ध मानता है। जगत् और उसकी प्रत्येक वस्तु को अनादि निधन एवं पूर्ण स्वतन्त्र मानकर प्रत्येक प्राणी को अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही अपने भविष्य का निर्माण करने तथा कर्मफल पाने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है।[1] प्राणी अपने पुरुषार्थ से आत्मसाधना कर आत्मा को परमात्मा बनाए या असत्कार्यों द्वारा नरकगामी। यह उसके सत् और असत् प्रयत्न पर ही निर्भर है। ईश्वरतत्त्व की शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है। ईश्वररूप में माने हुए अर्हन्तों और मुक्तात्माओं का उस ईश्वरत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे अन्य मतावलम्बी संसार के कर्ता-हर्ता ईश्वर में कल्पना किया करते हैं। इस दृष्टि से जैनदर्शन को अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। उसमें इस तरह के ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है।

भक्ति का प्रयोजन

मोक्ष की प्राप्ति

सभी धर्मों का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अतएव प्राय: सभी धर्मों में "मोक्ष" का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। चूंकि चार्वाक भौतिकवादी है, अत: उसके अनुसार मोक्ष नामक कोई पुरुषार्थ नहीं है।[2] बौद्धमत में मोक्ष को "निर्वाण" शब्द से कहा गया है जिसका मुख्य कारण "दु:ख निरोध" है। "आर्य सत्यों" का निरन्तर ध्यान करते हुए यदि जीव समाधि द्वारा प्रज्ञा

1- प्र०सा०, टीका, 2/74, 75, 77, 78, 95

2- षड्दर्शनसमुच्चय, प्रस्ता० , पृ० 4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त कर लेता है, तो उसका चित्त लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि से सर्वथा मुक्त हो जाता है यही "दुःख निरोध" या "निर्वाण" की अवस्था है।[1] न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के मतानुसार दुःखों के साथ ज्ञानादि अन्य विशेष गुणों का सम्पूर्ण निरोध ही जीवात्मा की "मुक्ति" है। सांख्य के अनुसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन त्रिविध दुःखों से विमुक्त होना ही जीव की मुक्ति है। अथवा आत्मरूप पुरुष तत्त्व से प्रकृतिरूप भौतिकतत्त्व का विमुक्त हो जाना ही मोक्ष है।[2] वेदान्त मतानुसार "अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्षः" अज्ञान का नाश होना मोक्ष है। इस तरह मोक्ष को सभी दर्शन दुःख से निवृत्ति रूप मानते हैं।[3]

जैनधर्म के अनुसार सम्पूर्ण कर्मों का नाश ही मोक्ष है।[4] राग, द्वेष तथा मोह के कारण कर्मों का आस्रव होता है। जिससे जीव बन्ध को प्राप्त हो जाता है, किन्तु तपस्या आदि के द्वारा जब कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यहाँ दुःखों का अभाव तो होता है परन्तु ज्ञानादि आत्मा के स्वभाविक गुणों का अभाव नहीं होता है। कर्मों की निर्जरा मुख्यरूप से रागद्वेष को जीतने अथवा वीतरागभाव से होती है। इसप्रकार कर्मपुद्गलों से मुक्त होने के कारण जीव सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करता है। आचाराङ्गचूर्णिकार ने वस्तुतः विवेक को ही मोक्ष माना है।"[5]

1- (क) बौद्धदर्शन, पृ०-1
   (ख) सुत्तनिपात, 28/8
2- सांख्यकारिका, का0 29
3- योगवशिष्ठ, टीका, 4/35/3
4- "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।" —त0सू0, 10/2
5- आचाराङ्गचूर्णि, चूर्णि - 272

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनदृष्टि से आत्मा ही साध्य, साधन एवं साधनामार्ग है। आत्मा ही संसार और आत्मा ही मोक्ष है, जब तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है तभी तक संसार है, किन्तु जब वह इन्हें अपने वशीभूत कर लेता है तो मुक्त कहा जाता है।[1] कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्माबद्ध और उनको विजित करने वाला आत्मा ही मुक्त कहलाता है। अथवा वासनाओं तथा विकल्पों से रहित शुद्ध आत्मदशा ही मोक्ष है।[2] आचार्य हरिभद्रसूरि ने उपरोक्त मतों का संक्षेप में प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं--"मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में, न तत्त्ववाद में, न ही किसी एक पक्ष का सेवन करने में है। वास्तव में कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।"3[3]

मुख्यरूप से भक्ति, ज्ञान और आचरण ये तीन मोक्ष प्राप्ति रूप साधना के मार्ग माने गये हैं।"[4] वैदिकदर्शन में तीनों को पृथक्-पृथक् मार्ग माना जाता है परन्तु जैनदर्शन में ये तीन मार्ग न होकर तीनों मिलकर एक मार्ग बनाते हैं। जैन एवं जैनेतर दर्शनों में स्थान-स्थान पर अपेक्षा से एक-एक को श्रेष्ठ बतलाया गया है। भक्ति को प्रथम साधन होने से सर्वोत्तम बतलाया है।[5] जैनदर्शन में भी भक्ति को मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी और और आधारभित्ति कहा है।[6] उपनिषदों में ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित है।[7] मीमांसा में कर्म

1- अध्यात्मतत्त्वालोक, 4/6

2-(क) स०सा०, टीका, गा० 305

(ख) योगशास्त्र, 4/5

3- षड्दर्शन समुच्चय, पद्य-1 तथा पद्य-43

4- त०सू०, 1/3

5- (क) भक्ति चन्द्रिका, पृ० 147

(ख) वैष्णव साधना और सिद्धान्त, पृ० 2

(ग) गीता, 4/34

6- त०सू०, 1/3

7- भक्ति का विकास, पृ० 5,6, 301, 302

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का[1], परन्तु तीनों का समन्वय हुए बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। मोक्ष प्राप्ति के लिए तीनों का होना आवश्यक है।

अब प्रश्न है कि क्या भक्ति मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है? आचार्य कुन्दकुन्द ने अर्हन्त भक्ति को सम्यक्त्व माना है।[2] सम्यक्त्व होने से अर्हन्त भक्ति मोक्ष का कारण भी है। आचार्य यतिवृषभ ने भगवद् भक्ति से पुण्योदय, उत्तम भव की प्राप्ति तथा अन्य भौतिक लौकिक सुखों की प्राप्ति होना बतलाया है।[3] आचार्य योगीन्दुदेव[4] तथा आचार्य पूज्यपाद[5] ने भी भक्ति का लक्ष्य मोक्ष बतलाया है। इसप्रकार से मुक्तिपथिक के लिए प्रारम्भ से अन्त तक भक्ति की उपयोगिता व महत्ता को ध्यान में रखकर उसका विरोध किसी भी आगम, आचार्य या सम्यग्दृष्टि विज्ञ पुरुषों ने नहीं किया, बल्कि सभी ने भक्ति को मुक्तिमार्ग में न केवल प्रमुख स्थान दिया अपितु भक्तिभाव से भगवान् की आराधना द्वारा उसके प्रसाद से इसी भव में आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त करते हुए सविशेषरूप में धर्म प्रभावना भी

1- पं० कैलाशचन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 238

2- (क) शीलपाहुड, अष्टपाहुड, टीका, गा० 40

(ख) अष्टपाहुड, गा० 84

(ग) स०सा०, गा० 146

3- तिलोयपण्णत्ति, गा० 218, 228

4- पर०प्र०, टी०, गा० 168

5- संस्कृतसिद्धभक्ति, पद्य-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पन्न की है। आचार्य कुन्दकुन्द[1], समन्तभद्र[2], योगीन्दुदेव[3], पूज्यपाद[4] एवं शिवार्यकोटि[5] आदि आचार्यों ने भगवद्भक्ति को मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी जानकर ही प्रतिदिन उसे ध्यान, वंदन, स्तवनादि द्वारा सम्पन्न करते थे, न कि बन्ध करके संसार सागर में डूबने के लिए। स्वयं तीर्थङ्कर भी भगवद्भक्ति को आदर्श मानकर "नमः सिद्धेभ्यः" कहकर भगवती दीक्षा ग्रहण करते हैं तथा केशलोंच करते हैं। सिद्धों का ध्यान भी मुक्ति प्राप्ति हेतु करते हैं। यद्यपि भक्ति बन्ध का कारण है क्योंकि भगवद्भक्ति करते समय शुभ राग के अंश होने से उत्कृष्ट कोटि का पुण्यानुबंध (पुण्य का आस्रव) होता है किन्तु साधकों का यह और इस प्रकार से होने वाला पुण्यबंध यद्यपि साक्षात् मोक्षप्राप्ति में प्रतिबन्धक तो अवश्य है परन्तु इसके आश्रय के बिना मोक्ष का मार्ग भी उद्घाटित नहीं होता है। इसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है- जैसे कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहता है तो वह नाव का आश्रय लेता है और उसके आश्रय से समुद्र के उस पार पहुंच जाता है। अब यदि वह राग के कारण उस नाव को नहीं छोड़ता है तो समुद्र के पार पहुंचकर भी अपने गन्तव्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी तरह भगवद्भक्ति रूप राग का सहारा लेकर आगे बढ़ना है। अन्त समय उस राग का भी त्याग करना है। इससे भक्ति के महत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। ज्ञानादि भी भक्ति के बिना

1- (क) प्राकृतदशभक्त्यां, अन्तिम पद्य

(ख) पन्चास्तिकाय, पद्य- 169, 170

2- रत्न०श्रा०, पद्य-119, 120

3- पर०प्र०, गा० 168, 169, 170 तथा 57

4- संस्कृतदशभक्त्यादि संग्रह, पद्य- 4, 6, 8

5- भ०आ०, गा० 750, 751

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्यकारी नहीं है। इससे भक्ति की मोक्षकारणता स्पष्ट है। भक्तिभाव से विषय-कषायों से निवृत्ति एवं सम्यक्त्वादि गुणों की सम्पुष्टि होती है। भक्तिभाव से ही पूर्वबद्ध पापों का क्षय तथा उनका पुण्यरूप में संक्रमण होकर अन्यान्य कर्मों के बंधन में शिथिलता आती है।[1] इसप्रकार भक्ति मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान [2] एवं मोक्ष का महत्त्वपूर्ण साधन कहा जा सकता है।

गुणोपासना

जैनधर्म प्रधानतः व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुणों का उपासक है। गुणों की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना आदर्श मानता है। जिस विधि से उपास्य ने स्वयं गुण प्राप्त किये, उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के समान गुणों को प्राप्त करना चाहता है। यही जैनभक्ति का वास्तविक ध्येय और प्रयोजन है। इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्रकार का कथन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है--

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।" [3]

1- "भक्ति" सम्यग्दर्शन का अङ्ग है। सम्यग्दर्शन की गणना रत्नत्रय में की जाती है और रत्नत्रय को मोक्ष का कारण माना जाता है। इस तरह भक्ति भी मोक्ष का कारण है। यहाँ इतना विशेष है कि भक्ति जब सराग भाव से (कामना लेकर या निदानपूर्वक) की जाती है तो वह बन्ध का कारण होती है और यदि निष्काम भाव से की जाती है तो संवर या निर्जरा की कारणहोती है, जो परम्परया मोक्ष का कारण बनती है। अतः जहाँ भी विपरीत कथन मिलता है वह दृष्टिभेद से है।"

2- क्षत्रचूडामणि, पद्य- 1, 12

3- त०सू०, पद्य-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अकलंक ने भी गुणोपासना के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत का समर्थन कर जैनभक्ति का प्रयोजन एवं आधार गुणों को माना है, व्यक्ति विशेष को नहीं।[1] आचार्य मानतुङ्ग ने कहा है कि यदि परमात्मा की भक्ति से कोई परमात्मा नहीं बन सकता तो फिर उसकी भक्ति का प्रयोजन ही क्या है?[2] आगे वे पुन: कहते हैं--"हे जगत के भूषण? हे जगत के जीवों के नाथ! आपके गुणों के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाये तो हमें कोई अधिक आश्चर्य नहीं है, ऐसा तो होना ही चाहिए, क्योंकि स्वामी का यह कर्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बना ले अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नहीं बना लेता।"[3] आचार्य मानतुङ्ग भगवान् के गुणों का स्तवन करते हुए पुन: कहते हैं--"हे भगवन्! आपके गुणों का संस्तवन करने से प्राणियों के भव भवान्तरों में संचित पाप क्षण भर में उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार रात्रि में भौंरों के समान काला लोकव्यापी अन्धकार प्रात:काल सूर्य की किरणों से तुरन्त ही विलय को प्राप्त हो जाता है।"[4]

1- अकलंकस्तोत्र, पद्य-20

2- "नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त: ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।।
-- भक्तामरस्तोत्र, पद्य-10

3- देखिए, वही, पद्य-10

4- "त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ।।
-- देखिए, वही, पद्य-7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निष्काम भक्ति ही श्रेष्ठभक्ति है। भक्ति को लक्ष्य कर मनुष्य में फलासक्ति उत्पन्न हो जाए तो भक्ति व्यर्थ है। इसीलिए निदान (फलाकांक्षा) को धार्मिक जीवन में एक प्रकार का शल्य (काँटा) माना गया है।[1] भक्त के सामने सदा मुक्ति का आदर्श रहना चाहिए। वह उससे कभी भटकता नहीं, यदि भटक जाये तो उसे सच्चा भक्त नहीं कह सकते। भक्ति का वह सच्चा फल यही चाहता है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक मानव जन्म में उसे भगवद्भक्ति मिलती रहे। कल्याणमन्दिरस्तोत्र के कर्त्ता कुमुदचन्द्र का कथन है--"हे शरण्य! आपके चरण कमलों की सतत संचित भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हों, क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता।"[2] जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के अन्त में जैन मन्दिरों में जो शान्ति-पाठ बोला जाता है, उसमें भी इस अभिप्राय को स्पष्टतः व्यक्त किया गया है। यथा--

"तव पादौ मम हृदये, मम हृदय तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत् यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ।।"[3]

जैनधर्म में भक्ति और उसका फल भक्त सापेक्ष है। उसका एकमात्र लक्ष्य मन की विश्रान्ति से उत्पन्न सुख है। कवि पुष्पदन्त ने आराध्य की भक्ति का फल

1- मुनि हजारीलाल स्मृति ग्रन्थ, पृ० 410

2- "यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसञ्चितायाः।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ।।"
-- कल्याणमन्दिरस्तोत्र, पद्य-42

3- संस्कृतशान्तिपाठ, वृहज्जिनवाणीसंग्रह, पृ० 119

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा प्रयोजन बतलाते हुये स्पष्ट किया है कि परमात्मा स्वयं यद्यपि कुछ नहीं करता फिर भी उसके निमित्त से आत्मा में जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है, उसी से भक्त के पापों का क्षय और पुण्य की उत्पत्ति हो जाती है।[1] आचार्य समन्तभद्र भक्ति का प्रयोजन एवं फल बतलाते हुए लिखते हैं कि-- "जिनेन्द्रदेव की भक्ति सम्पूर्ण दु:खों को दूर करने वाली, मनोकामनाओं की पूरक और कामवासनाओं को नष्ट करने वाली है। अत: उसे आदरपूर्वक उल्लास के साथ नित्य प्रति सम्पन्न करना चाहिए।[2] जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रखने वाला सम्यग्दृष्टि भव्य पुरुष, अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्र समूह की महिमा को, राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र- तीर्थङ्कर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।"[3] सम्यग्दर्शन (भक्ति) से पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित उच्चकुलीन, महान् अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं।[4]

1- नाभेयचरित, पद्य-10/5, 6, 7

2- "देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्व-दु:ख-निर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्।।"--रत्न0श्रा0,पद्य-119

3- "देवेन्द्रचक्र महिमान ममेयमानं,
राजेन्द्रचक्रम वनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्र मधरी कृत सर्वलोकं,
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्य: ।।" --देखिए, वही, पद्य-41

4- "ओजस्तेजोविद्या- वीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथा: ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता: ।।
अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टा: प्रकृष्टशोभाजुष्टा:।।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ता: स्वर्गे ।।"
-- देखिए, वही, पद्य- 36,37

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनभक्ति एवं पूजा के प्रकरणों में भक्ति के फलस्वरूप ऐसी कामनाएं उपलब्ध होती है जो वैयक्तिकनहीं अपितु सार्वजनिक हैं। भगवान् जिनेन्द्र की पूजा के बाद जो जैन उपसनागृहों में शान्तिपाठ बोला जाता है, उसमें भक्त कहता है--

"क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च सम्यग् विलसतु मघवा व्याधयोयान्तु नाशम्।।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वं सौख्य- प्रदायि ।।"[1]

और भी कहा--

"संपूजकानां प्रतिपालकानाम् यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोति शांति भगवान् जिनेन्द्रः।।"[2]

इसप्रकार प्रायः सभी वीतराग सन्त, ज्ञानी, आचार्य और धर्मधुरन्धर महापुरुषों ने एक स्वर से भक्ति का माहात्म्य बतलाया है तथा भगवद्भक्ति को मोक्ष का प्रमुख साधन[3], पापविनाशक[4], कल्याणकारक[5], तथा आत्महित-कारक[6] मान मानव समाज को श्रद्धापूर्वक नित्य प्रति सम्पन्न करने की प्रेरणा दी है। जहां भक्ति का प्रयोजन जैनपरम्परा में लौकिक सुखों कीप्राप्ति बतलाया गया है वहां पर व्यवहारनय की दृष्टि से कथन किया गया है और जहां पर आत्मा की साधना के द्वारा मोक्षप्राप्ति का प्रयोजन भक्ति के माध्यम से बताया गया है वहां निश्चयनय की अपेक्षा सेकथन किया गया है। क्योंकि जैन आराध्य वीतरागी हैं। उपासक आराध्य के मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है।

1- संस्कृतशान्तिपाठ, बृहज्जिनवाणीसंग्रह, पृ० 118, 119
2- देखिए, वहीं, पृ० 118, 119
3- त०सू०, 1/3
4- (क) स्व०स्तो०, पद्य- 16, (ख) विषापहारस्तोत्र, पद्य-7
5- विषापहारस्तोत्र, पद्य-38, 39
6- (क) कल्याणमन्दिरस्तोत्र, पद्य- 40, 41
(ख) स्वयम्भूस्तोत्र, पद्य-16

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

भारतीय दर्शन और धर्म की चिन्तन-परम्परा में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म (आचरण) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय हैं। इन्हें ही क्रमशः उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड के रूप में जाना जाता है। विभिन्न दर्शनों में इन्हें पृथक्-पृथक् मोक्ष-प्राप्ति के साधन माने जाते हैं परन्तु जैन साधना में मोक्षमार्ग के रूप में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म (चारित्र) तीनों की समवेत साधना का प्रतिपादन हुआ है। अर्थात् ये मोक्षसाधना के तीन रत्न हैं। यहाँ भक्ति को सम्यग्दर्शन शब्द से कहा गया है। समन्वयवादी जैन साधना में मुक्ति का मार्ग रत्नत्रय को बतलाया गया है, किसी एक को नहीं। सम्यग्दर्शन (तत्त्वार्थ में सच्ची श्रद्धा या भक्ति), सम्यग्ज्ञान(सच्चा ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (सत् कर्म) रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र को सम्यक् नहीं माना है। इससे स्पष्ट है कि जैनसाधना में भक्ति (सम्यग्दर्शन) को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

जैनभक्ति का प्रारम्भिक विकास वैदिक काल से ही मिलता है। अतः वैदिक भक्ति की तरह जैनभक्ति भी प्राचीनतम है। भक्ति का स्पष्ट विवेचन विक्रम की प्रथम शताब्दी के स्तुतिपरक साहित्य में मिलता है। कालान्तर में यह भक्ति-साहित्य प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश के क्रम से आधुनिक भाषाओं में भी लिखा गया है।

जैनपरम्परा में भक्ति को श्रद्धा, सेवा, वैयावृत्य, सम्यग्दर्शन आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है। अनुराग को भी भक्ति कहा गया है। यद्यपि राग को मोह कहा जाता है किन्तु वीतरागी में किया गया राग जघन्य मोह की कोटि में नहीं आता है। वीतरागी से राग करने का तात्पर्य है, तद्रूप होने की प्रबल आकांक्षा का उदय होना। अर्थात् वीतरागी से राग करने वाला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयं वीतराग बनना चाहता है। इसलिए जैन आचार्यों ने अन्तिम अवस्था में (जीवन्मुक्त होने के पूर्व) ईश्वरस्वरूप तीर्थङ्कर आदि के प्रति भी राग को छोड़ देने का स्पष्ट निर्देश किया है।

भक्ति की पूर्णता हेतु निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना इन आठ अङ्गों से होती है। वीतरागी जिनेन्द्र की भक्ति करने के नौ साधनों का विवेचन किया गया है। यथा-- पूजा, स्तुति-स्तोत्र, संस्तव-स्तवन, उपासना, वन्दना, विनय, मङ्गल, महोत्सव एवं सामायिक। आराध्य के प्रति भक्तिभाव को पुष्ट करने हेतु उपर्युक्त साधनों का होना आवश्यक है।

जैन आचार्यों ने भक्ति का विभाजन चार प्रकार से किया है-

(1) आराध्य की दृष्टि से 12 भेद किये हैं। यथा-- सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, पञ्चपरमेष्ठीभक्ति, तीर्थङ्करभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति एवं चैत्यभक्ति। इन भक्तियों में पञ्चपरमेष्ठियों की भक्ति का स्थान प्रमुख है। क्योंकि इसमें सभी का समावेश हो जाता है। इसके बाद तीर्थङ्कर भक्ति आती है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय विशेषतया स्तुति-स्तोत्रों में आराध्य 24 तीर्थङ्करों की भक्ति की गयी है।

(2) उत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति के दो भेद किये गये हैं। यथा-- निसर्गज (स्वाभाविक) तथा अधिगमज(परोपदेशज)।

(3) भक्ति की पद्धति के भेद से नौ भेद किये गये हैं। इसमें वैदिक नवधा भक्तियां कीर्तन, स्मरणादि का जैन स्तुति स्तोत्रों के अन्तर्गत स्वतन्त्र विवेचन हुआ है।

(4) आराध्य के आश्रय-भेद से 6 भेद किये गये हैं। यथा-- नामभक्ति, स्थापना-भक्ति, द्रव्यभक्ति, भावभक्ति, क्षेत्रभक्ति एवं कालभक्ति। इन भक्तियों में भावभक्ति का स्थान प्रमुख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति किसकी की जाती है? इस संदर्भ में आराध्य की दृष्टि से जो भक्ति के बारह भेद किये गये हैं उनसे ज्ञात होता है कि आराध्य सिद्ध आदि होते हैं परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या जैन धर्म में अन्य देवादिकों की भक्ति नहीं है? इस सन्दर्भ में सिद्धादि के आराधकों की भक्ति का विधान जैनधर्म में मिलता है। यहाँ यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जैनदर्शन में देवयोनि में उत्पन्न संसारी जीवों को भी देव पद से कहा गया है। ऐसे विशिष्ट जीवों अर्थात् देव और देवियों की भी भक्ति जैनधर्म में उपलब्ध होती है। अतः भक्ति के सन्दर्भ में यह भी जानना आवश्यक है कि ऐसे वे देव अथवा देवियां कौन हैं जिनकी आराधना जैनधर्म में की जाती है। मुख्यतः आराध्य तो तीर्थङ्करादि ही हैं। जिनका विवेचन "आराध्य की दृष्टि से भक्ति के भेदों के प्रकरण में" किया गया है। इनके अतिरिक्त जो अन्य देव और देवियां जैनशासन में सांसारिक सुखादि की प्राप्ति हेतु आराध्य मानी जाती हैं उनका भी विवेचन आवश्यक है। इनकी आराधना का प्रमुख कारण है कि ये देव-देवियां जैन सिद्धों तथा तीर्थङ्करों अथवा इनके उपासकों की रक्षा करते हैं।

उपास्य देवमण्डल में इन्द्र, धरणेन्द्र, यक्ष आदि देवों का तथा आराध्य देवियों में पद्मावती, सरस्वती, चक्रेश्वरी आदि देवियों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन देव-देवियों ने जिनधर्म के रक्षणार्थ एवं जिनशासन की उन्नति में विशेष योगदान दिया है। इसलिए ये जैनसाधना में पूजनीय हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक स्तुति ग्रन्थ रचे गये हैं। मन्दिरों तथा मूर्तियों का भी निर्माण हुआ है।

अब प्रश्न यह है कि जब जैनतीर्थङ्कर वीतरागी होकर आराधक की कोई सहायता आदि नहीं करते हैं तो फिर उनकी आराधना क्यों की जाती है? ऐसी आराधना का क्या फल है? तीर्थङ्करादि जब सृष्टिकर्ता आदि नहीं है तो फिर उनका स्वरूप क्या है? इस सन्दर्भ में जैनदर्शन ईश्वर को सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान् और वीतराग मानते हुए,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसे सृष्टि के सृजन, संरक्षण एवं विघटन से सर्वथा असम्बद्ध मानता है। जगत और उसकी प्रत्येक वस्तु को अनादि निधन एवं पूर्ण स्वतन्त्र मानकर प्रत्येक प्राणी को अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही अपने भविष्य का निर्माण करने तथा कर्मफल पाने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है। ईश्वरतत्व की शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है। जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुणों का उपासक है। गुणों की प्राप्ति के लिए ही उपासक उपास्य की भक्ति करता है। जिस मार्ग या विधि से उपास्य ने कर्मबन्धनों का छेदन किया है उसी विधि या मार्ग से उपासक भी कर्मों के बन्धनों को खोलकर मुक्त होना चाहता है। यही जैनभक्ति का वास्तविक उद्देश्य या प्रयोजन है। भक्त उपास्य को आदर्श बनाकर उनके समान (तद्रूप) बनना चाहता है। इस सम्बन्ध में तत्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने स्पष्ट कहा है--

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।"

इस तरह भक्ति से आराध्य के वीतरागी होने पर भी साधक की अभीष्ट सिद्धि हो जाती है। अत: भक्ति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी कहा गया है। इस पर ही ज्ञानादि की स्थिति है। अन्तिम समय में भक्ति के त्याज्य होने पर भी उसका महत्व समुद्र पार करने वाली नौका की तरह समाप्त नहीं होता है। वस्तुत: जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन का भक्ति एक व्यावहारिक रूप है। मुख्य सम्यग्दर्शन जो तत्वबोध या आत्मबोध रूप है आत्मा का गुण होने से उसके त्याज्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

जैनधर्म में मन्त्र, तन्त्रादि के द्वारा भी भक्ति को प्रकट किया जाता है। मन्त्रों में णमोकार मन्त्र का सर्वप्रमुख स्थान है। भक्ति के प्रभाव से ही तन्त्र साधना में यन्त्रसाधना भी जैनधर्म में पल्लवित हुई है। इसका प्रसङ्गत: विवेचन परिशिष्ट में किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार अन्य धर्मों की तरह जैनपरम्परा में भी भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु अन्य मतों की तरह जैनसाधना में भक्ति को मोक्षप्राप्ति का पृथक् साधन नहीं माना गया है। भक्ति, ज्ञान एवं चारित्र से समवेत होकर ही कार्यसाधिका मानी गयी है। वस्तुतः सच्ची भक्ति होने पर ज्ञान तथा चारित्र की प्राप्ति भी अवश्यम्भावी है।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनभक्ति एवं तान्त्रिक साधना

विकास एवं साहित्य

भक्ति के सन्दर्भ में नवकार मन्त्र का उल्लेख आया है। इसे मंगल-वाचक माना गया है। यह मन्त्र साधना का भी अङ्ग है। अतः यहां मंत्रादि का विचार अपेक्षित है, जिससे भक्ति की पूर्णता का परिज्ञान सम्भव हो सके। समस्त धर्मों में इष्ट देव और गुरु की भक्ति-पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और कुछ मन्त्र भी विशेष श्रद्धा के साथ जाप किये जाते हैं। उन मन्त्रों के आराध्य के द्वारा उस धर्म का आदर्श सामने आता है। जैनधर्म में देव और गुरु की उपासना अपनी आत्मशुद्धि और सद्गुण-प्रकटीकरण की प्रेरणा के लिए की जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैनधर्म मानता है कि सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग और मोक्ष का मूल कारण आत्मा है। देव और गुरु मात्र निमित्तकारण होते हैं। जैनधर्म के प्रचारक व प्रवर्तक तीर्थङ्कर अपनी साधना के द्वारा ही आत्मा की सर्वोच्च अवस्था मुक्ति को प्राप्त किये थे। प्राणियों के कल्याण हेतु उन्होंने आत्मोत्थान का मार्ग प्रकाशित किया। इसलिए परोपकारी होने से उनकी भक्ति-पूजा की जाती है।

भारतीय मनीषियों का चरम लक्ष्य दैहिक न होकर आध्यात्मिक रहा है। मन्त्र तन्त्र साधना का भी मुख्य ध्येय आत्मकल्याण से जुड़ा हुआ है। सांसारिक जीवन केवल आध्यात्मिक नहीं है। अतः जैन मन्त्र विद्या आगे चलकर भौतिक अभिसिद्धियों से जुड़ जाती है। तत्कालीन उन भौतिक अभिसिद्धियों को प्रयोग दैहिक भाग के लिए नहीं करते थे, नैमित्तिक रूप में वे अध्यात्मक-उत्कर्ष या धर्म-प्रभावना के लिए प्रयोग किया करते थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मन्त्र तन्त्र तथा यन्त्र का प्रयोग बहुत प्राचीन है। वेद-चतुष्टयी में अथर्ववेद एक इसी तरह की रचना है, जिसमें मन्त्रों के प्रयोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक साहित्य में आगे चलकर मन्त्र तथा तन्त्र विद्या पर अनेक ग्रन्थ रचे गये एवं विविध आस्था के अनुरूप उन्हें पृथक्-पृथक् भेदों में बांटा गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनमें वैष्णव शैव और शाक्त प्रमुख हैं। तान्त्रिक साधना को वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया का ही परिणाम माना जाता है।[1] तान्त्रिक साधना ने ब्राह्मण धर्म को अत्यधिक प्रभावित किया। तन्त्र साधना का प्रभाव पड़ने का मूल कारण यही था कि उसमें तन्त्र-मन्त्र, ज्योतिष-चमत्कार, देवी-देवताओं की पूजा, जादू-टोना, वशीकरणादि विधाओं की बहुलता है। इसी कारण से सुख प्राप्ति की लालसा में लोग तन्त्रमार्ग की साधनाओं की ओर झुकने लगे थे। विगत शताब्दियों में जीवन का उद्देश्य भोगोन्मुखता की ओर अधिक प्रवृत्त हो गया है। इसलिए तन्त्र-मन्त्रों से किसी रूप में आध्यात्मिक विकास सधने की जो बात थी, वह लुप्त होती गई, केवल भौतिक और वह भी अधिकांशत: वासनात्मकता तथा शत्रु के प्रति मारक और उच्चाटन आदि में प्रवृत्ति विशेष बलवत्ती हुई। मन्त्रों के नाम पर ठगी, प्रवंचना, स्वार्थलोलुपता होने लगी। फलस्वरूप मन्त्रों की वास्तविकता एवं शक्तिमत्ता से लोगों की निष्ठा उठती गई। यद्यपि मन्त्रवेत्ता, मन्त्रप्रभाव, मन्त्रशक्ति पूर्णत: नष्ट नहीं हुई, पर मन्त्रों के नाम पर जनसाधारण को ठगने का इतना विस्तार हो गया, प्रवंचक और ठग इतने बढ़ गये कि यथार्थ तक लोग पहुँच ही नहीं पाते हैं।

भारत के प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय ने तन्त्रमन्त्र विद्या को अपनाया। जैन आचार्यों, यतियों एवं सन्तों ने भी सूक्ष्म एवं गम्भीर गवेषणा करके अनेक उपयोगी मन्त्रों, यन्त्रों व तन्त्रों की रचना की थी और उनका सफल परीक्षण भी किया था। जैनधर्म कट्टर निरामिषाहारी होने से मद्य-मांस से तो बच गया और भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य के पालन की जो बात कही थी उसमें भी कनिष्ठ प्रकार का आचार प्रविष्ट न हो सका परन्तु अन्य बातों में वह उसका पूरा-पूरा शिकार बन गया। जैनधर्म पुरुषकर्मवादी या पुरुषार्थवादी धर्म था। परन्तु सांसारिक सुख की आशाओं के कारण उसमें तन्त्र मन्त्र, ज्योतिष-चमत्कार, चोघड़ियाँ, मुहूर्त-शकुन, नवग्रहादि, देव-देवियों का पूजन आदि

1- जै०सा० बृ० इति०, भा० 6, पृ० 10

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक विधियां प्रविष्ट हो गईं।[1]

जैन मन्त्रों में ॐ, ह्रीं, क्लीं आदि बीज मन्त्र हैं।[2] ये सब तान्त्रिक साधना के परिणाम हैं। जैनधर्म तान्त्रिक साधना से अछूता नहीं रहा है, चाहे विधियां तन्त्रमार्ग या वैदिक तन्त्रमार्ग से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में आई हों। आज तो वह आगम मान्य बन गई हैं, इसलिए उसे हटाया नहीं जा सकता। जैनपरम्परा में मन्त्रविद्या का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन पूर्व ज्ञान से मिलता है।[3] भगवद्भाषित, गणधरग्रथित द्वादशाङ्ग में बारहवां अङ्ग दृष्टिवाद है। उसके पांच विभाग हैं-- परिकर्म, सूत्र, पूर्वानुयोग, पूर्वगत तथा चूर्णिका। चौथे विभाग पूर्वगत में चौदह पूर्व आते हैं। चौदह पूर्वों में दशवां विद्यानुप्रवाद पूर्व है। विद्यानुप्रवाद पूर्व मुख्यत: मन्त्रात्मक साधनाओं, सिद्धियों एवं उनके साधनों से सम्बद्ध है। विद्यानुप्रवाद पूर्व के अतिरिक्त द्वादशाङ्गी के दशवें अङ्ग प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी मन्त्रों का विश्लेषण किया गया है। संघदासगणी की वासुदेव-हिंडी नामक प्रसिद्ध रचना है, जो पांचवी शती की कृति मानी जाती है।[4] उसके चतुर्थ अध्याय (लम्भक) में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ का चारित्र विस्तार से वर्णित हुआ है। वहां पर एक कथा आती है, जिससे मन्त्र विद्या का प्रवर्तन का सम्बन्ध भगवान् ऋषभ के समय के साथ जुड़ता है। जैनसाहित्य के अनुसार जैन आचार्यों के कुलों में एक का नाम विद्याधरकुल था। इस कुल परम्परा के अन्तर्गत अनेक मन्त्रात्मक विद्याओं के वेत्ता तथा चामत्कारिक सिद्धियों के धारक आचार्य हुये थे। यहां पर विद्या शब्द का तात्पर्य मन्त्र अर्थ से है। जैन परम्परा में पहले प्राय: ऐसा ही प्रयोग होता रहा है।[5]

1- श्रमण, अंक 12, सन् 1973, अक्टूबर, पृ० 30

2- जैoसाoबृo इतिo, भाo 6, पृo 11, 12

3- देखिए, वही, पृ० 11, 12

4- देखिए, वही, पृ० 12,

5- देखिए, वही, पृ० 12, 13

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनपरम्परा में चौबीस तीर्थङ्करों की सेवा करने वाले चौबीस देव-देवियां अथवा यक्ष-यक्षिणियां मानी गई हैं[1], क्योंकि तीर्थङ्कर तो मुक्त हो जाते हैं। लौकिक दृष्टि से वे किसी को कुछ लाभ नहीं पहुंचा सकते। उनकी प्रभावकता को बनाए रखने के लिए ये यक्ष और यक्षिणियां साधकों और आराधकों को लाभान्वित करते हैं।[2] जो स्त्री देवता के द्वारा अधिष्ठित हो उसे विद्या और पुरुष देवता के द्वारा अधिष्ठित हो उसे मन्त्र नाम से अभिहित किया जाता है।[3] मन्त्र साधना के विकास के युग में जैनों ने अपने जैन देवी-देवताओं के अतिरिक्त इतर परम्परा के देवी-देवताओं को भी स्वीकार किया है। सम्भवत: घण्टाकर्णदेव, चण्डिका, ज्वालामालिनि तथा अम्बिका देवी इसी कोटि की है।[4] यद्यपि ऐहिक सिद्धि के लिए जैनपरम्परा में मन्त्र विद्या के प्रयोग का निषेध है, पर जैनशासन की उन्नति और प्रभावना की दृष्टि से आचार्य को मन्त्रों का वेत्ता भी होना आवश्यक है। इसप्रकार के प्रभावक आचार्यों के चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थ जैन वाङ्मय में मिलते हैं।[5]

साहित्य

चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा रचित प्रभावक चरित्र एक इसी कोटि का ग्रन्थ है जिसमें मन्त्र विद्या निष्णात प्रभावापन्न आचार्यों का वर्णन है। कुछ प्राकृत साहित्य भी मिलता है जिसमें मन्त्र विद्या का वर्णन आया है, इसमें सिद्ध प्राभृत, योनि प्राभृत, निमित्त प्राभृत तथा विद्या प्राभृत प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्य मंत्रविद्या से सम्बन्धित ग्रन्थों में नकार

1- (क) सर्वार्थसिद्धि, 4/11

(ख) तिलोयपण्णत्ति, भा02, 6/33-98

2- जैनसाहित्य का वृहद इतिहास, भा0 6, पृ0 400 से 421

3- देखिए, वही

4- देखिए, वही

5- देखिए, वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्त्रकल्प, लोगस्सकल्प, णमुत्थुणंकल्प, तिजयपहुत्तकल्प, ऋषिमण्डलकल्प, वर्द्धमानविद्याकल्प व ह्रींकारकल्प भी महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् महावीर के लगभग डेढ़ शताब्दी बाद भद्रबाहु द्वारा रचित उवसग्गहर स्तोत्र तदनन्तर सिद्धसेन द्वारा रचित कल्याणमन्दिरस्तोत्र, मानतुङ्गसूरिकृत भक्तामरस्तोत्र, नन्दिषेणमुनिकृत अजितशान्तिस्तवन, मानदेवसूरि द्वारा रचित तिजयपहुत्तस्तोत्र आदि मन्त्र शास्त्र की महान् निधियां हैं। इन दो हजार वर्षों के अन्तराल में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य पादलिप्त, आचार्य वज्रस्वामी, आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य जिनदत्त, आचार्य जिनप्रभ आदि अनेक महान् विद्वान् हुए हैं जिनके द्वारा रचित महाप्रभावशाली मन्त्र, यन्त्र आदि आज भी कहीं-कहीं उपलब्ध मिलते हैं।[1] सुप्रसिद्ध गुजराती लेखक श्री धीरजलाल टोकरसी शाह के अनुसार श्वेताम्बर विद्वानों ने मन्त्रविद्या पर लगभग 500 ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने "तंत्रोनुं तारण" नामक ग्रन्थ में केवल 148 तन्त्रमन्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[2] पांचवी शताब्दी से लेकर दशवीं शताब्दी तक मन्त्र विद्या के ग्रन्थों का निर्माण अत्यधिक मात्रा में हुआ है।

1- जै०सा०बृ०इ०, भा० 4, पृ० 293-324
तथा देखिए, भा० 6, पृ० 421

2- तंत्रोनुं तारण, प्रस्तावना, पृ० 4,5,6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमुख जैन मन्त्र-तन्त्र एवं यन्त्र

श्री णमोकार महामन्त्र

जैनपरम्परा में भक्ति-पूजा के साथ कुछ मन्त्रों का जाप भी किया जाता है। ऐसे मन्त्रों में अनादिनिधन महामन्त्र श्री णमोकार महामन्त्र का स्थान जैन साधना में प्रमुख है। जैनधर्म में अर्हन्त और सिद्ध को परमेश्वर या देव कहा जाता है। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये तीनों गुरुस्थानीय हैं। इन पांचों को परमेष्ठी कहा जाता है। ये पांचों प्रत्येक जैन के लिए इष्ट और उपासनीय होते हैं। इसलिए जैनधर्म का जो मूलमन्त्र है उसमें पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार किया है। उसके बाद के चार पदों में उपर्युक्त परमेष्ठियों के नमस्कार के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। पञ्चपरमेष्ठी के पांच पद एवं नमस्कार माहात्म्य के चार पद मिलाकर कुल नव पद होते हैं, जिसे नवकार मन्त्र कहा जाता है। श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों में ही नवपद की साधना की जाती है। इन मन्त्र में पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया है इसलिए इसको नमस्कार मन्त्र भी कहते हैं।[1] इसप्रकार णमोकार महामन्त्र को नवकार मन्त्र तथा नमस्कार मन्त्र भी कहा जाता है। सम्पूर्ण नवकार मन्त्र इसप्रकार से है--

1- णमो अरिहंताणं-- अर्हन्तों को नमस्कार।

2- णमो सिद्धाणं -- सिद्धों को नमस्कार।

3- णमो आयरियाणं- आचार्यों को नमस्कार।

4- णमो उवज्झायाणं- उपाध्यायों को नमस्कार।

5- णमो लोए सव्वसाहूणं- लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार।

6- एसो पंच णमुक्कारो-- ये पांचों नमस्कार,

7- सव्व पावप्पणासणो- समस्त पापों का नाश करने वाले हैं।

1- पञ्चपरमेष्ठी नमस्कारकल्प, विविधतीर्थकल्प, भा० 1, पद्य-5,6

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8- मंगलाणं च सव्वेसिं -- सर्व मङ्गलों में,
9- पढमं हवइ मंगलं -- यह प्रथम या प्रधान मङ्गल है।[1]

इस नमस्कार मन्त्र का जाप की सुविधा की दृष्टि से संक्षिप्तीकरण भी किया गया है। संस्कृत में "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः" प्रसिद्ध ही है। प्राकृत में पांचों पदो का प्रथम अक्षर लेकर "असिआउसायनमः" मन्त्र के जाप का विधान भी है। सबसे संक्षिप्त रूप प्रणव मन्त्र "ॐ" है। जिसमें पञ्चपरमेष्ठि सूचक अ आ आ उ म इन पांचों का संयुक्त रूप ओंकार माना गया है।[2] कई जैन सूत्रों का आरम्भ भी नमस्कार मन्त्र से होता है।

षडावश्यक आदि सभी विधि-विधान एवं व्याख्यान भी इसी मन्त्रोच्चार के साथ आरम्भ किया जाता है। इस मन्त्र के पद वाक्यों में कोई भी व्यक्ति न्यूनाधिक न कर सके, इसलिए अक्षर आदि की गणना भी निश्चित कर दी गयी है। 8 संपदा, 68 लघु अक्षर, 7 गुरु अक्षर इस मन्त्र के बतलाये गये हैं। जिन माणिकों के द्वारा इस मन्त्र का जाप किया जाता है उनकी संख्या 108 होती है, जो इन पञ्चपरमेष्ठियों के गुणों की संख्या पर आधारित है। अर्हन्त के 12, सिद्ध के 8, आचार्य के 36, उपाध्याय के 25 और साधु के 27 गुण कुल मिलाकर 108 गुण हो जाते हैं।[3]

श्री णमोकार मन्त्र का माहात्म्य

जिस प्रकार वैदिक समाज में वैदिक मन्त्रों तथा गायत्री मन्त्रों का, पारसी और ईसाइयों में प्रार्थना का महत्त्व है। उसीप्रकार जैन शासन

1- (क) अभि०रा०को०, भा० 4, पृ० 1836
   (ख) षट्खण्डागम, टीका, मंगलाचरण।
2- देखिए, वही
3- अभि०रा०को०, भा० 4, पृ० 1836

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में श्री णमोकार महामन्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। धर्मोपासक कोई भी प्राणी हो, चाहे वे अवस्था में बालक हो, वृद्ध हो अथवा तरुण हो सभी प्रत्येक समय णमोकार महामन्त्र का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। जैन शासन में इस मंत्राधिराज के समान दूसरा कोई मन्त्र नहीं है।[1] आत्मिक साधना हो या व्यावहारिक कार्य हो व्यापार हो अथवा परदेश गमन हो, छोटे-बड़े सभी कार्यों में प्रथम महामंगलकारी श्री आदि मन्त्र णमोकार मन्त्र का ही स्मरण किया जाता है। चित्त से चिन्तित, वचन से प्रार्थित और काया से प्रारम्भित कार्य वहीं तक सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, जब तक कि णमोकार मन्त्र का स्मरण नहीं किया जाता।[2] समस्त मन्त्रों में णमोकार मन्त्र महान् है। वह चिन्तामणि के समान है। इस मन्त्र के एक-एक अक्षर में अष्ट महासिद्धि नव निधि व चौदह पूर्व का ज्ञान भरा हुआ है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र का कथन है--"नमस्कार महामन्त्र दुःख हरता है, सुख करता है, यश उत्पन्न करता है, भव समुद्र का शोषण करता है। वह इस लोक और परलोक के सर्व सुखों का मूल है।"[4] आगे पुनः कहते हैं --"नमस्कार जैसा मन्त्र, शत्रुञ्जय जैसा पर्वत, वीतराग जैसे देव न भूतकाल में हुए और न होंगे।"[5] इसी प्रकार अनेक जैनाचार्यों ने णमोकार महामन्त्र का माहात्म्य

1- (क) उवसग्गहरस्तोत्र, गा० 4
   (ख) सिद्धसेन शब्दानुशासन, पद्य-5
2- श्री महानिशीथसूत्र, गा० 18
3- धर्मध्यानदीपक, नमस्कार मंत्र, पद्य-3
4- प्राकृत व्याकरण, गा० 30
5- देखिए, वही, गा० 31

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिपादित किया है।[1]

णमोकार महामन्त्र की साधना विधिपूर्वक करनी चाहिए। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार साधक इसका अनुष्ठान करे। इस मन्त्र का नौ लाख जाप करने से नरकगति का बन्ध निवारण होता है। यदि अनुष्ठानपूर्वक सकलीकरणक्रिया सहित इस मन्त्र का एक लाख जाप करें तो तीर्थङ्कर गोत्र का बन्ध होता है, जीवन का सर्वतोमुखी विकास होता है।[2] सामान्य तौर पर णमोकार महामन्त्र के अनुष्ठान हेतु अनेक प्रकार के विधि-विधान भी जैन साहित्य में बतलाये गये हैं।[3]

जैनसाहित्य में श्री णमोकार महामन्त्र के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों का भी उल्लेख हुआ है। जिनमें निम्नलिखित मन्त्र प्रमुख हैं-- विघ्नहरण, वशीकरण, सर्वरक्षा, मनोवांछितकार्यसिद्धि, क्लेशनाशक, शत्रुनाशक, ऋद्धिसिद्धि, शान्तिदायक तथा मृत्यु आभास मन्त्र आदि।[4]

1- (क) ज्ञानार्णव, 38/43,46

(ख) विजयानन्द, अंक 9, सन् 1980, पृ० 2

(ग) संस्कृत पञ्चगुरुभक्ति, पद्य-7

(घ) एकीभावस्तोत्र, पद्य-12

2-(क) णमोकार मन्त्र माहात्म्य, पद्य-2

(ख) क्षत्रचूड़ामणि, 4/8

(ग) भगवती आराधना, गा० 754- 758

(घ) प्राकृत पञ्चगुरुभक्ति, गा० 7

3-(क) मन्त्रविद्या, पृ० 19-24

(ख) यन्त्रमन्त्रकल्पसंग्रह, पृ० 16-26

(ग) भैरवपद्मावतीकल्प, पद्य- 7,8,10

4- यन्त्रमन्त्रकल्पसंग्रह, पृ० 3-25

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तन्त्र

कल्पप्रकरण में कुछ विशिष्ठ तन्त्रों का उल्लेख भी मिलता है। कतिपय प्रमुख तन्त्र इसप्रकार से हैं-- आकर्षणसम्बन्धी तन्त्र, वशीकरणादि तन्त्र, सम्मोहन सम्बन्धी तन्त्र आदि।[1]

यन्त्र

यन्त्रों का केन्द्र बिन्दु सूर्य है और इसका मूल है शक्ति। सामान्यतया इसके प्रयोग से व्यक्ति के हृदय में अद्भुत ज्ञान व अद्भुत तेज का उद्भव होता है। निम्नलिखित यन्त्रों की पूजा का वर्णन किया गया है-- श्री ऋषिमण्डल महायन्त्र, चौसठयोगिनी महायन्त्र, महाप्रभावक उवसग्गहर यन्त्र, लक्ष्मी बीसा यन्त्र, सर्वकार्यसिद्धि बीसा यन्त्र, नवग्रहपीड़ानिवारण यन्त्र, लड़की ससुराल रहे यन्त्र, विघ्नहरण यन्त्र, ज्ञानवृद्धि यन्त्र, भूतप्रेतनिवारण यन्त्र, सर्वरोगनिवारण यन्त्र आदि प्रमुख हैं।[2]

"मन्त्रविद्या" नामक ग्रन्थ में भी करणादीन सेठिया ने मन्त्र साधना से सम्बन्धित लगभग 100 मन्त्रों का तथा यन्त्र विद्या से सम्बन्धित 66 यन्त्रों का एवं तन्त्र विद्या से सम्बन्धित 52 तन्त्रों का उल्लेख किया है।[3]

इसप्रकार से जैनसाहित्य के अन्तर्गत तान्त्रिक साधना का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

1- यन्त्रमन्त्रकल्पसंग्रह, पृ० 25-60

2- देखिए, वही, पृ० 61-75

3- मंत्रविद्या, करणादीन सेठिया, कलकत्ता से प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहायक ग्रन्थ-सूची

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहायक ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद - विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर ।

अभिधानराजेन्द्रकोश - रतलाम, 1913-1934 ई0

अकलंकस्तोत्र - भट्टाकलंक, हिन्दीटीकायुक्त, मुन्शी नाथुराम, कटनी, जबलपुर, वि0सं0 1963।

अमरकोष - (क) चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस
(ख) लोगाक्षिभास्कर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1972 ई0 ।

अनगार धर्मामृत - प्रकाशक- श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन, ग्रन्थमाला, बम्बई।

अभिधानचिन्तामणि - आचार्य हेमचन्द्र-भावनगर, वी0नि0सं0 244।

अन्तगडदसाओ - पी0एल0 वैद्य सम्पादित, पूना, 1932 ई0 ।

अष्टपाहुड - आचार्य कुन्दकुन्द- श्री पाटणी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड़ ।

आदिपुराण - आचार्य भगवज्जिनसेन, पं0 पन्नालाल जैन साहित्याचार्य सम्पादित , भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

आनन्दघनपदसंग्रह - महात्मा आनन्दघन, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई।

आप्तपरीक्षा - आचार्य विद्यानन्दि- पं0 दरबारीलाल कोठिया सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, 1949 ई0 ।

आवश्यकनिर्युक्ति - आगमोदय समिति ग्रन्थोद्धार, सूरत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तराध्ययनसूत्र - पार्श्वनाथ विद्याश्रम, आई०टी०आई० मार्ग बी०एच०यू०, वाराणसी।

उपासकाध्ययन - प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

उत्तरपुराण - आचार्य गुणभद्र- पं० पन्नालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०सं० 2011।

ऋग्वेद (1, 2 भाग) - मैक्समूलर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

एकीभावस्तोत्र (पन्चस्तोत्रसंग्रह) - प्रकाशक- मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत।

ऐतरेय ब्राह्मण - सायणभाष्यसहित, आनन्दाश्रम पूना।

कठोपनिषद् - शाङ्करभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।

कुन्दकुन्दभारती - सम्पादक- पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, श्रुत भण्डार ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन।

कल्याणमन्दिरस्तोत्र (पन्चस्तोत्रसंग्रह) - प्रकाशक- मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत।

काशिकावृत्ति - वामन जयादित्य विरचित, एस०मिश्रा सम्पादित, बी० जिज्ञासु की भूमिका सहित, तृतीय संस्करण, बनारस, 1952 ई०।

खण्डहरों का वैभव - मुनि कान्तिसागर-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1953 ई०।

गोम्मटसार - आचार्य नेमिचन्द्र-रायबहादुर जुगमन्दरलाल जैनी सम्पादित, अजिताश्रम, लखनऊ, सन् 1927 ई०।

गुणभूषणश्रावकाचार - आचार्य गुणभूषणस्वामी विरचित

चेइयवंदणमहाभासं - श्री शान्तिसूरि, पं० बेचरदास सम्पादित, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि०सं०, 1977 ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छहढाला	-	दौलतरामकृत- मगनलालजैन सम्पादित, तृतीय संस्करण।
जैन साहित्य और इतिहास	-	पं० नाथूराम प्रेमी, नवीन संस्करण, संशोधित साहित्यमाला, बम्बई।
जैनसाहित्य का वृहद इतिहास भा० 4-6	-	डॉ० गुलाब चन्द चौधरी एवं डॉ० मोहनलाल मेहता, प्रकाशक- पार्श्वनाथ विद्याश्रम, आई० टी०आई० रोड, बी०एच०यू०, वाराणसी।
जैनधर्मदर्शन	-	डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी।
जीवनसाधना	-	सम्पादक- मुनि मनोहर, प्रकाशक- श्री सन्मति प्रचारक संघ, बम्बई।
जैनस्तोत्र संदोह (सं०प्रा०अप०), भा० 1,2	-	मुनि चतुरविजय सम्पादित, प्रकाशक- साराभाई मणिलाल नवाब, प्रथम भाग- वि०सं० 1989, दूसरा भाग-वि०सं० 1992,
जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा	-	देवेन्द्र मुनि शास्त्री।
जैनधर्म	-	पं० कैलाशचन्द्र जैन, भारतीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी, मथुरा।
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश	-	जैनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-प्रथम।
जिनसहस्रनाम	-	पं० आशाधर- पं० हीरालालजैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०सं० 2010
जैनकला में भारतीय देव प्रतीकों का रूपान्तर	-	श्री गोपीलाल अमर, बम्बई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनशिलालेखसंग्रह भाग 1,2	-	हीरालाल जैन सम्पादित, माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई।
जैनस्तोत्रसमुच्चय	-	मुनि चतुरविजय सम्पादित, प्रकाशक- पांडुरंग-जावजी, निर्णयसागर प्रेस, वि०सं० 1984
जैनधर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा	-	झिनकू यादव, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
णायकुमारचरिउ	-	पुष्पदन्त, सम्पा० हीरालाल जैन, प्रका० जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, बरार ।
तत्त्वार्थसूत्र-	-	(क) उमास्वामी- पं० कैलाशचन्द्र जैन सम्पादित, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा।
		(ख) पं० सुखलाल संघवी के विवेचन सहित, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस।
तत्त्वार्थराजवार्तिक	-	भट्टाकलंक- पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, जनवरी 1953 ई०।
तत्त्वार्थवृत्ति	-	श्रुतसागरसूरि- पं० महेन्द्रकुमार जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०सं० 2010
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	-	श्री विद्यानन्दि स्वामी- पं० मनोहरलाल न्यायशास्त्री सम्पादित, गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
तिलोयपण्णत्ति (भाग 1, 2)	-	श्री यतिवृषभाचार्य- डॉ० ए०एन० उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1943 ई०।
तत्त्वसमुच्चय	-	सं० - डॉ० हीरालाल जैन, भारत जैन महामण्डल, वर्धा।
संसारोनुं तारण	-	ले०- श्री धीरजलाल टोकरसी, अहमदाबाद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशभक्ति(सं०प्रा०) - आ० प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी अनुवाद सहित, प्रकाशक- तात्या गोपाल शेटे, शोलापुर; सन् 1921 ई०।

द्रव्य संग्रह - आ० सिद्धसेन, श्री उदयसागरसूरि सम्पादित, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर।

दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन संग्रह - श्री शांतिसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, ईडर, साबरकांठा, 1954 ई०।

धवला पुराण - जैनसाहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती।

धनञ्जयनाममाला - धनञ्जय- पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०सं० 2009

धर्मध्यानदीपक - मांगीलाल हुकुमचन्द पण्ड्या, कलकत्ता।

नियमसार - आ० कुन्दकुन्द- जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

निशीथचूर्णि - जिनदासगणी- विजयप्रेम सूरीश्वर(सम्पादित) वि०सं० 1995

नारदभक्तिसूत्र - नारदप्रोक्तम्- रायबहादुर पण्ड्या वैजनाथ की हिन्दी टीका सहित, बनारस, 1933ई०

नित्यपूजापाठसंग्रह - प्रकाशक- नानूराम रतनलाल सामरिया, इन्दौर।

प्राकृतदशभक्तिसंग्रह - श्री सिद्धसेन जैन गोयलीय सम्पादित, प्रकाशक- अखिल विश्वजैन मिशन, गुजरात प्रान्तीय केन्द्र, सलाल(साबरकांठा) गुजरात।

पञ्चास्तिकाय - प्रकाशक- रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई।

प्राकृतव्याकरण - आचार्य हेमचन्द्र- डा० आर० पिशेल सम्पादित, संस्कृत सीरीज, बम्बई, 1900 ई०।

पाइअसद्दमहण्णव - पं० हरगोविन्ददास विक्रम सेठ सम्पादित, प्रथम संस्करण, कलकत्ता, 1928 ई०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमात्मप्रकाश - योगीन्दुदेव- डॉ० ए०एन० उपाध्ये सम्पादित, प्रकाशक- परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई।

प्रवचनसार - आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक- रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई।

पञ्चाध्यायी - क- सम्पादक- पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक- श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी।

ख- गांधी नाथारंगजी, शोलापुर।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय - प्रकाशक- रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई।

प्राचीन भारतीय लोकधर्म- डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल,वाराणसी।

पउमचरिय - विमलसूरि- डॉ० याकोबी सम्पादित, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, 1914 ई०।

पातञ्जल योगदर्शन - स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, वि०सं० 2027, द्वितीय संस्करण।

पार्श्वनाथचरित्र - श्रीमद्वादिराजसूरि- हिन्दी अनुवाद सहित, प्रकाशक- जयचन्द जैन, कलकत्ता।

प्रबन्धचिन्तामणि - मेरुतुंगाचार्य- मुनि जिनविजय सम्पादित, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन।

पद्मचरित - रविषेण- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1928 ई०।

प्रतिष्ठातिलक - आचार्य नेमिचन्द्र, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन- ग्रन्थमाला, बम्बई, 1914 ई०

प्रतिष्ठासारोद्धार - पं० आशाधर- हिन्दी अनुवाद सहित, जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बम्बई, 1918 ई०।

बृहत्कल्पभाष्य - संघदासगणी वाचक, आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर, 1934 ई०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	-	समन्तभद्र, प्रथम गुच्छक, भदैनी, वाराणसी।
भक्ति का विकास	-	डा० मुंशीराम शर्मा, प्रकाशक- चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
भक्ति चन्द्रिका	-	क- आचार्य बलदेव उपाध्याय सम्पादित, सं०सं०वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी, । ख- डा० विश्वनाथ पाण्डेय, भारतीय शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
भागवत सम्प्रदाय	-	आचार्य बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण।
भगवती आराधना	-	क- शिवार्यकोटि- मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अष्टम पुष्प, बम्बई। ख- जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर।
भावसंग्रह	-	देवसेन- पं० पन्नालाल सोनी सम्पादित, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
भगवतीसूत्र-	-	बेचरदास भगवानदास सम्पादित, जिनागम प्रकाश सभा, अहमदाबाद।
भक्तामरस्तोत्र	-	आचार्य मानतुङ्ग, अनुवादक- अमृतलालशास्त्री, राजविद्यामन्दिर, कश्मीरीगंज, वाराणसी।
भैरवपद्मावतीकल्प	-	क- मल्लिषेण- के०वी० अभ्यंकर सम्पादित, प्रकाशक- साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद। ख- पं० चन्द्रशेखरशास्त्री सम्पादित, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत।
महाबन्ध	-	भूतबलि- सुमेरचंद दिवाकर सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महापुराण (भाग 1,2)	-	क- पं0 पन्नालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ख- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
मूलाचार	-	वट्टकेरि- पं0 पन्नालाल सम्पादित, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
मन्त्रविद्या	-	करणादीन सेठियाकृत, कलकत्ता।
यशस्तिलक और इंडियन कल्चर	-	प्रो0 के0के0 हेण्डीकी, प्र0- जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर।
यशस्तिलक चम्पू	-	आचार्य सोमदेव, प्र0- निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
यन्त्रमन्त्रकल्पसंग्रह	-	सम्पा0 - चंदनमल नागोरी, मेवाड़ (छोटी सादड़ी)।
रत्नकरण्डश्रावकाचार	-	क- समन्तभद्र, टीका, पं0 पन्नालाल जैन सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी। ख- मोहनलाल काव्यतीर्थ, विजयाटीकासहित, जबलपुर।
रामचरितमानस	-	गो0 तुलसीदास, प्रकाशित - गोरखपुर वि0सं0 2009।
विषापहारस्तोत्र (पञ्चस्तोत्रसंग्रह)	-	प्रकाशक- मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत।
वैदिक साहित्य और संस्कृति	-	आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
वसुनन्दिश्रावकाचार	-	आचार्य वसुनन्दि- पं0 हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
वृहत्कथाकोश	-	श्री हरिषेणाचार्य- डॉ0 ए0एन0 उपाध्ये सम्पादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविधतीर्थकल्प - जिनप्रभसूरि-मुनि जिनविजय सम्पादित, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन।

वसुदेवहिण्डी - संघदास गनीवाचक- आत्मानन्द सभा, भावनगर।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र - क- हिन्दीटीका तथा स्वप्नेश्वर भाष्यसहित श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, भारतमनीषा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, द्वितीय पुष्प।
ख- मुरलीधरदासप्रणीत, भाष्यसहित, निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई।

श्रीमदभागवतगीता - गीताप्रेस, गोरखपुर।

षट्खण्डागम - पुष्पदन्त भूतबलि- डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अमरावती।

षड्दर्शनसमुच्चय - डॉ० महेन्द्रकुमार जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

संस्कृत साहित्य का इतिहास - क- गैरोला, चौखम्बा विश्वभारती, वाराणसी।
ख- श्री रामबिलास पोदार स्मारक ग्रन्थमाला समिति नवलगढ़, प्रथमावृत्ति, 1938

स्वयम्भूस्तोत्र - समन्तभद्र- पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर।

स्तुतिविधा - समन्तभद्र- हिन्दी अनुवाद सहित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर।

सर्वार्थसिद्धि - पूज्यपाद- पं० फूलचन्द्र जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

समीचीन धर्मशास्त्र - समन्तभद्र- पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, अप्रैल 1955

समयसार - आचार्य कुन्दकुन्द- हिन्दी टीका सहित, श्री पाटणी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड़।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सागारधर्मामृत	-	पं0 आशाधर- टीकायुक्त, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
स्तुतिचतुर्विंशतिका	-	स0- कापाड़िया, प्र0- श्री आगमोदय समिति बम्बई।
सामायिक पाठ	-	अमितगति- ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन सम्पादित, धर्मपुरा देहली, वि0सं0 1977
समाधितन्त्र	-	आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद- पं0 जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर।
हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास	-	सं0- डॉ0 देवेन्द्रनाथ शर्मा, एवं डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, वाराणसी।
हरिवंशपुराण (खण्ड 1, 2)	-	श्री जिनसेन- माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1930 ई0 ।
हरिभक्तरसामृतसिन्धु	-	अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, प्रथम संस्करण, वि0 सं0 1988 ।
त्रिलोकसार	-	श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई।
ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि	-	डॉ0 ए0एन0 उपाध्ये सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
ज्ञानार्णव	-	आचार्य शुभचन्द्र- रायचन्द जैन शास्त्रमाला, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्रिकाएं

अनेकान्त	-	वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।
अहिंसा वाणी	-	अ०वि०जैन मिशन, अलीगंज (एटा)
कल्याण	-	गीताप्रेस, गोरखपुर।
जैनसिद्धान्तभास्कर	-	जैनसिद्धान्त भवन, आरा।
जैनसन्देश	-	भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा।
जयगुन्जार	-	अ०भा०जयगुन्जार प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान।
तुलसी प्रज्ञा	-	जैन विश्व भारती लाडनूं, राजस्थान।
तीर्थङ्कर	-	सं० -नेमिचन्द्र जैन, इन्दौर
निकाय	-	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प्रज्ञा	-	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
महावीर जयन्ती स्मारिका	-	जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा, दिल्ली।
विजयानन्द	-	अहमदाबाद, गुजरात।
श्रमण	-	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, आई० टी०आई० रोड, बी०एच०यू०, वाराणसी।
श्रमणोपासक	-	अ०भा० साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, रामपुरिया, बीकानेर।
सन्मति वाणी	-	श्री दि० जैन मालवा प्रान्तिक सभा, इन्दौर।

अभिनन्दन ग्रन्थ

पं० कैलाशचन्द्र अभिनन्द ग्रन्थ
मुनि हजारीलाल स्मृति ग्रन्थ
युगप्रधान श्री जिनदत्त सूरि
राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ
श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ
सार्द्ध शताब्दी स्मृति ग्रन्थ
हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi